ावत-दर्शन

गवती कथा

६ वाँ खण्ड

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To. Bishnu Das Malu.

Pin- 742133.
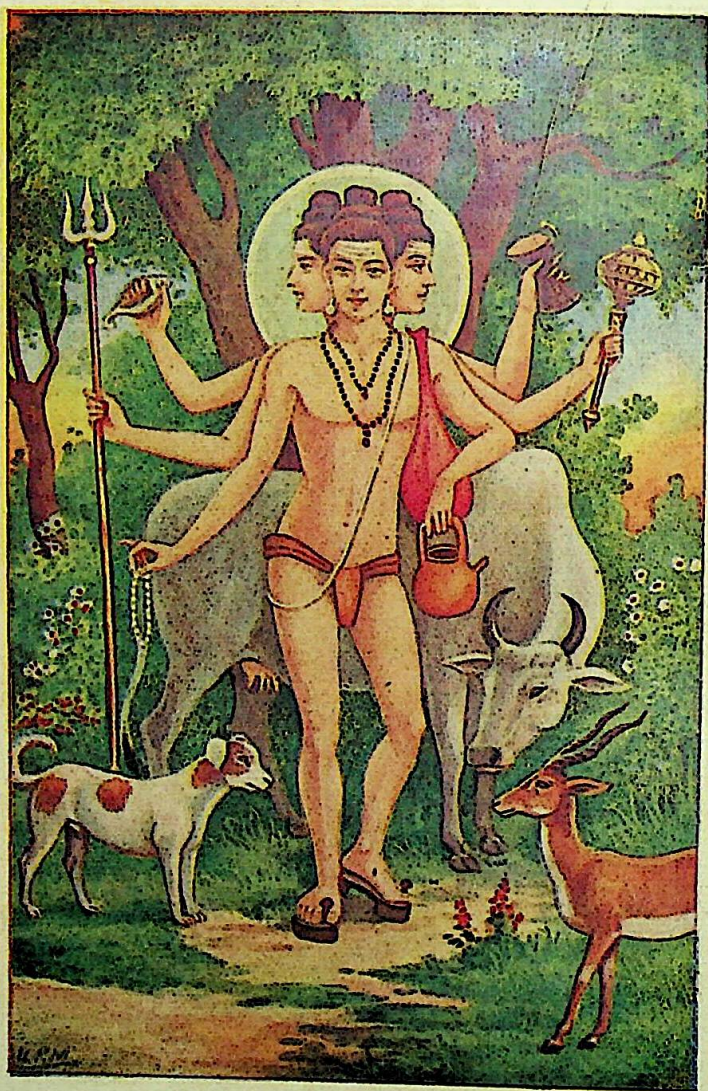
[भगवान् दत्तात्रेय]

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(नवम् खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, भूसी,
प्रयाग

●

तृतीय संस्करण १०००] चैत्र. सं० २०२७ [मूल्य १.६५

संशोधित मूल्य २-०० रुपया

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्ति उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अँग्रेंजो में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेह है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगों ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दोजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते हैं उसे कथा में सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रहो है। पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

—:०:—

Bishnu Das Mali
Pin - 742133

दत्त भगवान् की सहस्रार्जुन पर कृपा

[१७३]

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० २३ अ०, २४ श्लोक)

छप्पय

देवासुर संग्राम भयो सुर सबरे हारे ।
देखि देवपति दुखी देवगुरु वचन उचारे ॥
दत्तात्रेय समीप सफल हों काज तिहारे ।
शरण गये लहि विजय पाइ श्री भये सुखारे ॥
सहसबाहु अर्जुन भये, ऋद्धि सिद्धि जगमहं लहीं ।
पायो अन्तहु परम पद, कहुँ हरि बिनु हारे नहीं ॥

यथार्थ उपदेश उसी को दिया जाता है, जो सर्वथा अपने अनुरूप हो । जो आज्ञाकारी नहीं, सेवा में जिसकी निष्ठा नहीं, गुरुचरणों में अनुराग नहीं, ऐसे पुरुष को उपदेश देना निषेध

---

* श्री शुक कहते हैं—"राजन् ! महाराज कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन हुए जो सप्त द्वीपवती पृथ्वी के अधिपति हुए । जिन्होंने भगवान् के अंशावतार श्री दत्तात्रेयजी से योगविद्या की अणिमादि सिद्धियों को भी प्राप्त किया ।"

बताया है। इधर-उधर की बातें पूछ-पाछ कर उसे टाल दिया जाता है। सर्वात्म भाव से जिसने आत्म-समर्पण नहीं किया, जिसने अपना मन गुरुदेव के मन के साथ मिला नहीं दिया, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के ही लिये सेवा नहीं करता अपितु गुरु चरणों में भक्ति भी रखता है, सद्‌गुरु उसी को अपनी निधि समर्पित करते हैं। वैसे तो सभी शिष्य की परीक्षा लेकर ही उपदेश देते हैं। जो कम से कम एक वर्ष समीप रह कर सेवा शुश्रूषा द्वारा अपनी पात्रता प्रकट न करे, उसके प्रति उपदेश देना निषेध है। परीक्षा करके पात्रता, अधिकार समझ कर जैसी योग्यता हो, उपदेश देना चाहिये। भगवान् दत्तात्रेय परीक्षा करके ही उपदेश देते थे। पहिले वे अपने निषिद्ध आचरण दिखाकर अपने प्रति घृणा उत्पन्न कराते। इतने पर भी जो घृणा नहीं करता, भक्तिभाव से उनकी सेवा ही करता रहता, उसे फिर इच्छित फल देते। धनार्थी को धन, पुत्रार्थी को पुत्र और मोक्षार्थी को मोक्ष देने में ये विलम्ब नहीं करते।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् दत्तात्रेय ने किन-किन भाग्यशाली राजर्षियों को उपदेश दिया? यदि उचित समझें, तो उन सब के सुखप्रद सम्वाद हम सबको सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनिवर! भगवान् दत्त ने तो बहुतों को उपदेश दिया है। हैहयकुलावतंस महाराज सहस्रबाहु, स्वनाम धन्य महाराज यदु, धर्मनिष्ठ महाराज अलर्क, प्रजावत्सल महाराज आयु तथा प्रातःस्मरणीय परम भक्त प्रह्लादजी आदि बहुत से मुमुक्षुओं को उन्होंने अपने उपदेशामृत से अजर अमर बनाकर इस लोक की सम्पत्ति भी दी और मोक्ष का अधिकारी भी बना दिया। ये सब कथायें इन राजर्षियों के चरित्रों के प्रसंग में वर्णन की जायंगी। यहाँ तो मैं अत्यन्त संक्षेप में इनका उल्लेख

मात्र किये देता हूँ। यदि आपकी आज्ञा हो, तो विस्तार से वर्णन करूँ ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी ! आप जैसे उचित समझें, वैसे ही वर्णन करें। यहाँ संक्षेप में ही सुनाइये।"

शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी कहने लगे—"ऋषियो ! परम पावन चन्द्रवंश में हैहय-वंशी क्षत्रिय कहलाये। उसी वंश में परम धार्मिक, सत्य-परायण, प्रजा-वत्सल महाराज कृतवीर्य हुए। उन्होंने बहुत वर्षों तक इस समस्त वसुन्धरा का शासन किया। अन्त में जब वे राजर्षि अपना समय समाप्त करके स्वर्ग सिधारे, तो सभी मंत्री पुरोहितों ने मिलकर उनके योग्य पुत्र अर्जुन को राजगद्दी पर बिठाना चाहा; किन्तु वे कृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य महाराज अर्जुन बड़े विचारवान् थे। उन्होंने राज्य-सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया। वे बोले—"पृथ्वी पर बहुत से राजा हैं, वे प्रजाओं से कर तो लेते हैं, किन्तु उनकी जैसी रक्षा करनी चाहिये वैसी कर नहीं सकते, क्योंकि अन्य बलवान् राजा उन्हें दबा देते हैं। यदि मैं एक ही समस्त वसुन्धरा को पालन करने में समर्थ होऊँ, तब तो मैं राज्य करूँगा, अन्यथा नाममात्र का राजा होकर मैं पाप का भागी नहीं बनूँगा।"

महाराज के ऐसे मनोरथ को समझ कर उनके कुल-गुरु भगवान् गर्ग बोले—"राजन् ! आपका विचार बड़ा सुन्दर है। यदि आप धैर्य धारण करके भगवान् दत्तात्रेय की सेवा कर सकें, तो अपने अभीष्ट मनोरथ को सहज में ही प्राप्त कर सकते हैं।"

अपने गुरु के वचनों पर विश्वास करके कार्तवीर्य महाराज अर्जुन ने पूछा—"महाराज, ये दत्तात्रेय भगवान् कौन हैं? किनके पुत्र हैं ? कहाँ रहते हैं ? इनकी सेवा करके किसी ने

अतुल ऐश्वर्य्य प्राप्त भी किया है ? इन सब बातों का आप उत्तर दें, तब मैं निर्णय करूँगा।"

अपने शिष्य के ऐसे वचन सुनकर भगवान् गर्ग बोले— "राजन्! दत्त भगवान् परम सती साध्वी अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए महामुनि अत्रि के औरस पुत्र हैं। वे साक्षात् श्रीविष्णु के अंशावतार हैं। सह्य पर्वत के समीप सुन्दर आश्रम में तपस्या करते हुए निवास कर रहे हैं। उनकी विचित्र दिनचर्या है। उनके बाह्य रूप को देखकर जो उनसे घृणा करता है, वह ठगा जाता है और जो उनको ईश्वर समझकर उपासना करता है, उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। देखिये, राजन्! भगवान् दत्त के प्रसाद से ही देवताओं ने दैत्यों को जीत लिया।"

यह सुनकर कार्तवीर्य अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! देवताओं ने दत्त भगवान् के वरदान से दैत्यों को किस प्रकार पराजित किया? इस कथा को आप मुझे सुनावें।"

महाराज का ऐसा प्रश्न सुनकर भगवान् गर्ग कहने लगे— "राजन्! पहिले देवताओं और असुरों का बड़ा भारी युद्ध हुआ। असुर बलवान् थे। देवता तो देवता ही ठहरे। असुरों की मार को न सह सकने के कारण वे भाग खड़े हुए। असुरों ने उन्हें भागते देखकर तालियाँ पीटीं, देवता इधर-उधर छिप गये। स्वर्ग के सिंहासन पर असुरों का आधिपत्य हो गया।"

इस पराजय से इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। वे एकान्त में छिपकर अपने गुरु बृहस्पतिजी की शरण में गये और उनकी यथोचित पूजा करके पूछने लगे—"प्रभो! हम किस उपाय से स्वर्ग की गई हुई लक्ष्मी को असुरों के हाथ से प्राप्त कर सकते हैं?"

यह सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी बोले—"देखो, देवराज!

असुर बड़े बलवान् हैं, तुम युद्ध करके इन्हें नहीं जीत सकते। इन्हें जीतने का एक ही उपाय है।"

अत्यन्त उत्सुकता के साथ देवराज ने पूछा—"गुरुदेव! वह कौन-सा उपाय है? हमें शीघ्र बताइये। हम सब उसे अवश्य करेंगे।"

भगवान् बृहस्पति बोले—"देखो, तुम सब लोग अत्रिपुत्र भगवान् 'दत्त' की उपासना करो। यदि वे प्रसन्न हो गये, तो तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण हो जायँगे।"

देवराज ने पूछा—"प्रभो! वे कैसे सन्तुष्ट होंगे?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"तुम उनके बाह्य कार्यों की ओर ध्यान न देना। वे भुलाने को लोक विपरीत आचरण करते हैं। तुम भगवद् भाव से निष्कपट होकर उनकी आराधना करना। वे चाहें तो बात को बात में विजय प्राप्त करा सकते हैं, परमपद दिला सकते हैं।"

कौन महापुरुष है? कौन क्षुद्र पुरुष है? इसे या तो शास्त्र बता सकते हैं या गुरुदेव बता सकते हैं, अथवा अपना शुद्ध हुआ अन्तःकरण बता सकता है। इन तीनों की सहायता के बिना कोई नहीं पहिचान सकता कि ये सच्चे साधु हैं या बनावटी। जब गुरुदेव ने ही आज्ञा दे दी कि वे महापुरुष हैं, तो फिर उनका बाह्य आचरण कैसा भी हो, हमें तो गुरुबचनों पर श्रद्धा होनी चाहिये। गुरु तो सदा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होता ही है। वह शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी करता ही नहीं।

बृहस्पतिजी की बात विश्वास करके देवताओं के साथ इन्द्र भगवान् दत्तात्रेय के आश्रम पर गये। वहाँ उन्होंने देखा भगवान् की बगल में एक परम रूप-लावण्य-युक्त लक्ष्मीजी के समान स्त्री बैठी है, गन्धर्व गा रहे हैं, अप्सरायें नाच रही हैं। देवताओं ने

इन बातों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे बड़ी विनय के साथ भगवान् की आराधना करने लगे। भगवान् जब चलते, तो वे भी उनका अनुगमन करते। जहाँ वे बैठ जाते, देवता भी उनके बैठने के अनन्तर नीचे आसन पर बैठते। जब वे लेट जाते तो उनकी सेवा करते। सारांश यह कि वे अत्यन्त ही श्रद्धा के साथ, सावधान होकर, अव्यग्र भाव से दत्त भगवान् की परिचर्या करने लगे। उनकी सेवा शुश्रूषा से संतुष्ट होकर एक दिन भगवान् ने पूछा—"देवताओ ! तुम मुझसे क्या चाहते हो, क्यों मेरी सेवा कर रहे हो ?"

हाथ जोड़ कर देवराज ने कहा—"प्रभो ! हम सब असुरों से पराजित हो गये हैं। हमें पुनः अपना ऐश्वर्य्य प्राप्त हो सके ऐसी कृपा कीजिये।"

झूठा आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् बोले—'अरे, यह तुम से बिना सिर पैर की बात किसने कह दी ? किसने तुम्हें बहका दिया ? अरे भैया ! मैं जय पराजय क्या जानूँ ? तुम देखते नहीं मैं कितने सुख से रहता हूँ, विषय वासनाओं में फँसा हुआ हूँ। मैं तुम्हें कैसे विजयी बना सकता हूँ ?"

हाथ जोड़ कर देवताओं न कहा—"प्रभो ! आप हमारी वंचना न करें। हमारे गुरुदेव ने आपका सत् स्वरूप हमें बता दिया है। आप तो स्वयं साक्षात् जगन्नाथ हैं। ये भगवती तो लक्ष्मी देवी हैं। ये कहीं भी रहें, इनमें दोष व्याप्त ही नहीं होता। जैसे सूर्य किरणें ब्राह्मणों के घर में भी जाती हैं, चांडाल के घर में भी जाती हैं। सर्वत्र जाने पर भी वे निर्लेप बनी रहती हैं।"

यह सुनकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देवताओं ! वास्तविक बात यही है। बृहस्पति ही मेरे स्वरूप को

जानते हैं। अच्छी बात है, तुम असुर दैत्यों को मेरे सम्मुख किसी तरह ले आओ। मेरी दृष्टि पड़ते ही सब श्रीहीन हो जायँगे। वे मेरे स्वरूप को न समझ कर पाप में प्रवृत्त हो जायँगे। तब तुम स्वर्ग के राज्य पर अधिकार कर लेना।"

भगवान् दत्त की ऐसी आज्ञा सुनकर देवताओं ने ऐसा ही किया। उन्होंने असुरों को फिर युद्ध के लिये ललकारा। असुरों ने उन्हें परास्त किया। देवता भागे, असुर भी भागते हुए देवताओं का पीछा करते हुए दत्तात्रेय भगवान् के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने भगवान् को लक्ष्मीजी के सहित अवधूत वेष में विहार करते हुए बैठे देखा। तब तो सबके सब असुर उन लक्ष्मी जी के रूप से मोहित हो गये और कहने लगे—"इस बाबाजी के पास इस त्रैलोक्य-सुंदरी स्त्री का क्या काम? इसे सभी असुर उठाकर ले चलो।" इस प्रकार कहकर और उसे पालकी में बिठा कर सिर पर रखकर असुर उसे ले चले।

यह देखकर हँसते हुए दत्त भगवान् देवताओं से बोले—"देवताओ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ। ये लोग अपने पाप से ही पराजित हो गये। जो लक्ष्मीजो को सिर पर रखकर ले जाता है लक्ष्मी तत्क्षण उसे छोड़कर दूसरे के समीप चली जाती हैं, अब तुम युद्ध करो। तुम्हारी विजय होगी।"

महामुनि गर्ग महाराज अर्जुन से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् दत्तात्रेय का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त करके देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई की और उन्हें पराजित करके स्वर्ग की अनपायिनी लक्ष्मी को प्राप्त किया। सो, महाराज! आप भी दत्त भगवान् की शरण में जायँ। उनकी कृपा से भुक्ति-मुक्ति दोनों ही आपको प्राप्त होगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने गुरुदेव गर्ग के मुख से

-दत्त भगवान् की महिमा सुनकर कार्तवीर्य अर्जुन उनके आश्रम में गये। वहाँ उन्होंने वही दशा देखी—भगवान् अवधूत वेष में पागलों की भाँति अखाद्य पदार्थ खा रहे हैं, अपेय पदार्थ पी रहे हैं। पास में परम सुन्दरी स्त्री बैठी है। नाच, गान हो रहा है। महाराज को तो ज्योतिषाचार्य भगवान् गर्ग ने सब बता ही दिया था; अतः वे उनके इस आचरण को देखकर विचलित नहीं हुए। उनकी इन बातों को देखकर अश्रद्धा नहीं हुई और वे परम भक्तिभाव से आत्रेय भगवान् की आराधना करने लगे।"

जब भगवान् ने इन्हें श्रद्धा सहित सेवा करते देखा तो बोले—"राजन्! हम तो उन्मत्त हैं, पागल हैं, हममें कोई सामर्थ्य भी नहीं। स्वयं हम विषयासक्त हैं। आप हमारी सेवा क्यों करते हैं? किसी समर्थ सिद्ध पुरुष की सेवा शुश्रूषा करें। हमारी सेवा से आपको क्या मिलेगा?"

इस पर कार्तवीर्य बोले—"प्रभो! आप साक्षात् जगन्नाथ हैं, मेरे गुरुदेव ने ऐसा ही बताया है। मैं आपके किसी भी आचरण को देखकर विचलित न हूँगा, ये जगज्जननी लक्ष्मीजी मेरी पूजनीया माता हैं।"

इतना सुनते ही भगवान् प्रसन्न हो गये और बोले—"वत्स! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे यथेष्ट वर माँगो, चाहे जितना माँगो, कठिन से कठिन माँगो, मैं वही दूँगा।"

भगवान् को इस प्रकार प्रसन्न देखकर हाथ जोड़कर महाराज अर्जुन बोले—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो इतने वरदान मुझे दीजिये—

१—मुझे उत्तम ऋद्धि-सिद्धि दीजिये।

२—मोक्ष सम्बन्ध पर ज्ञान प्रदान कीजिये।

३—युद्ध में कोई भी मेरा सामना न कर सके।

४—मेरे सहस्र बाहुएं हो जायं, जिससे पाँच सौ वाण एक साथ छोड सकूं।

५—आकाश, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, स्वर्ग आदि में सर्वत्र मेरी अव्याहत गति हो, जहाँ चाहूँ तहाँ चला जाऊं।

६—मेरा विशिष्ट पुरुष अर्थात् भगवान् के हाथ से ही मृत्यु हो।

७—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्गों का मैं ज्ञाता होऊं।

८—मेरा धन, धान्य कोष सभी अक्षय हो। अतिथि मेरे यहाँ से विमुख न लौटें; मैं संसार में अपने समय का अद्वितीय भूप होऊं।"

भगवान् दत्तात्रेय तो प्रसन्न ही थे। उन्होंने तथाऽस्तु कहकर महाराज को सभी वरदान दिये। तभी से उनका नाम सहस्रार्जुन हो गया। सहस्र बाहुओं में पाँच सौ धनुष चढ़ा कर वे एक साथ अकेले पाँच सौ बाण छोड़कर शत्रुओं को आश्चर्यान्वित कर देते थे। वे अपने समय के अद्वितीय शूर, वीर, योद्धा हुए। राजधानी में आकर समस्त मन्त्री, पुरोहित और प्रजाजनों ने उनका राज्याभिषेक किया और वे बड़े आनन्द के साथ सप्तद्वीपवत्ती समस्त वसुधा का शासन करने लगे। उनका सामना करने वाला कोई भी वीर नहीं हुआ। उनको संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राटों में गणना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् दत्तात्रेय के प्रसाद से कृतवीर्य के पुत्र सहस्रार्जुन ने इस प्रकार इस लोक की सर्वोत्तम समृद्धि और परलोक में सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त की।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने महाराज सहस्रार्जुन के बल, वीर्य, पराक्रम, तेज आदि की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने दत्त भगवान् को कृपा से समस्त ऋद्धि सिद्धियों को

प्राप्त करके क्या-क्या कार्य किये ? कैसा उनका प्रभाव था ? उनकी मृत्यु किस प्रकार हुई ? यदि आप सुनाना उचित समझें और इस प्रसंग को भगवान् के चरित के साथ सम्बन्ध हो, तो कृपा करके विस्तार के साथ इन सब बातों को हमें सुनाइये ।"

यह सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"महाभाग ! महाराज सहस्रार्जुन के चरित्र के साथ भगवान् परशुराम के चरित्र का सम्बन्ध है। इन सब बातों को मैं यथास्थान परशुराम के चरित्र के प्रसंग में सुनाऊँगा । इस समय तो आपने जो दत्तात्रेय भगवान् के सम्बन्ध का प्रश्न किया है, उसी का उत्तर सुनिये । यह मैंने सहस्रार्जुन को जिस प्रकार दत्त भगवान् ने वर दिया, वह प्रसंग को सुनाया । अब अन्य राजर्षियों को जिस प्रकार उपदेश दिया, उसे भी एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें ।

छप्पय

अगिनि सरिस अवधूत खाहिँ सब तुरत पचावें ।
करहिं अल्प अनुकरण पतित नर ते है जावें ॥
अनल अनिल रवि अशुचि शुचिहु महँ नहिँ लपटावें ।
समरथकूँ का दोष उमापति विष कूँ खावें ॥
बाहिर के आचरण लखि, दत्तदेव तैं घिनि करहिं ।
उभय लोक सुख तें रहित, होहिं नरक महँ मरि परहिं ॥

दत्त भगवान् की यदु आदि राजर्षियों पर कृपा

[१७४]

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो,
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः ।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा,
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥*

(श्री भाग० २ स्क० ७ अ०, ४ श्लो०)

छप्पय

जे श्रद्धायुत धैर्य धारि सेवें नित इनकूँ ।
है प्रसन्न सब सिद्धि मुक्ति हू देवें तिनकूँ ॥
यदु ने पूछ्यो प्रश्न यथारथ उत्तर पायो ।
नृप अलर्क सुख लह्यो दत्त ने ज्ञान सिखायो ॥
असुरराज प्रह्लाद हू, सुनि शिक्षा निर्भय भये ।
आयु नृपति सेवा करी, नहुष सरिस सुत हरि दये ॥

उपदेष्टा दो प्रकार के होते हैं। एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें उपदेश देने का व्यसन होता है । कोई आवे, कभी आवे उन्हें उपदेश देने से काम। उपदेश दिये बिना वे रह ही नहीं

---

* ब्रह्माजी कहते हैं—"एक बार महामुनि अत्रि ने भगवान् से वर माँगा कि आप मुझे अपने समान पुत्र दें ।" तब भगवान् ने कहा—

सकते। कुछ न कुछ कहते रहना, उपदेश देते रहना उनका नित्य का आहार है। ऐसे व्यसनी उपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो स्वयं आचरण करने वाले और एक कहने ही वाले। स्वयं आचरण करने वालों से लोगों का कल्याण होता है। सब को उपदेश देते हैं, उनमें से एक आध अधिकारी निकल आता है, वह उस उपदेश को ग्रहण करके परमार्थ मार्ग की ओर अग्रसर होता है। अन्य लोग सुनकर चले जाते हैं। अस्पष्ट रूप से उनके संस्कार भी जमते हैं, किन्तु जो केवल वाणी से उपदेश मात्र ही देते हैं, स्वयं आचरण नहीं करते वे तो व्यवसाई हैं। उपदेश रूपी वस्तु देकर वे प्रतिष्ठा, पैसा, और विषयों को लेते हैं। वैश्य वृत्ति है. मैं यह देता हूँ इसके बदले तुम मुझे यह दो। परमार्थ में ऐसे उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वालों का प्रायः कुछ भी महत्व नहीं। दोनों ही संसारिक व्यवहार कर रहे हैं। किसी ने अन्न, कपड़े का व्यापार किया, किसी ने वाणी की चातुरी दिखाकर लोगों से अपना स्वार्थ सिद्ध किया।

दूसरे ऐसे उपदेशक होते हैं कि वे किसी को उपदेश देते ही नहीं। वे भी दो प्रकार के हैं। एक तो व्यवहार कुशल होते हैं। उनके पास कोई उपदेश लेने आता है, तो उसे अनाधिकारी समझ कर इधर-उधर की दो चार बातें पूछकर टाल देते हैं। "तुम्हारे बाल-बच्चे अच्छे हैं, तुम्हारी बहू तुमसे स्नेह करती

अच्छा, मैंने अपने आपको दिया (दत्त) इसीलिये भगवान् 'दत्त' नाम से उनके घर प्रकट हुए। जिनकी चरणकमल की मकरन्द से पावन-तनु हुए महाराज यदु तथा सहस्राजुंन आदि अनेक राजर्षियों ने भोग मोक्षरूपी दोनों प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त किया।"

है ? खेती-बारी अच्छी है, व्यापार अच्छा है। बस आने वाला प्रसन्न हो जाता है। महाराज बड़े अच्छे हैं, हमसे कैसी घुल-घुल कर स्नेह की बातें करते हैं। महात्मा भी सोचते हैं—यह इन्हीं बातों का अधिकारी था। वह भी सोचता है महात्मा जी तो हमारे घर के ही हैं। दूसरे गूढ़ तथा निस्पृह होते है, वे अपने को लोकविरुद्ध कार्य करके छिपाते हैं। लोगों के सम्मुख अपने को सिड़ा, पागल प्रकट करत हैं। उपदेश देने से कोसों दूर भागते हैं। सर्वथा लोगों को यही दर्शाते रहते हैं, कि यह कुछ नहीं जानता, पागल है, विरुद्धाचरण करता है सदाचारहे न है। किन्तु उन्हें यदि कोई सच्चा अधिकारी मिल जाता है और इन्हें पहचान कर इनके पीछे ही लग जाता है, तो वे उसकी योग्यता समझ कर उसे उपदेश देते हैं, उसके संशयों का नाश करते हैं। ऐसे महापुरुष का उपदेश कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। उनका उपदेश अमोघ होता है। जिस पर भी वह कृपा कर दें, उसी का बेड़ा पार हो जाता है। जो जिस भावना से इनकी सेवा करता है, वह निश्चय ही उस पदार्थ को पाता है, क्योंकि वे उर्वरा भूमि के पारखी होते हैं। ऐसी वैसी भूमि में वे बीज नहीं डालते। उर्वरा भूमि में ही बीज बोते हैं. वह अवश्य फली-भूत होता है। भगवान् दत्तात्रेय उन्हीं आचार्य और उपदेशकों में से हैं। वे अनाधिकारी को उपदेश देना तो दूर रहा, उससे बोलते भी नहीं, उसकी ओर देखते तक नहीं। कठिन से कठिन परीक्षा करने के ही अनन्तर वरदान या उपदेश देते हैं। ऐसे बहुत से लोगों को भगवान् 'दत्त' ने कृतार्थ किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् दत्तात्रेय ने बहुत से मुमुक्षुओं को कृतार्थ किया है। इनमें महाराज यदु बहुत प्रसिद्ध हैं। भगवान् दत्त के ज्ञान को प्राप्त करके वे स्वयं ही

२

नहीं तरे अपितु अवधूत गीता रूपी एक दृढ़ नौका को भी अपने पीछे छोड़े गये, जिस पर चढ़कर असंख्यों जीव इस संसार सागर को तर गये हैं और आगे भी तरते जायँगे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज यदु की भगवान् दत्तात्रेय से कहाँ भेंट हुई ? उन दोनों में क्या संवाद हुआ इसे आप विस्तार के साथ हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन् ! यहाँ उस सम्पूर्ण संवाद को सुनाने का अवसर नहीं है। इसे तो मैं आगे श्रीकृष्ण उद्धव संवाद के प्रसंग में सुनाऊँगा। यहाँ पर तो दत्त भगवान् के चरित्र प्रसंग में अत्यन्त संक्षेप के साथ में इसका दिग्दर्शन मात्र ही कराके देता हूँ। विस्तार के साथ वही वर्णन करूँगा।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"हाँ-हाँ, यह बहुत उत्तम है आप ऐसा ही करें। हाँ, तो महाराज यदु को भगवान् दत्त कहाँ मिल गये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! एक दिन महाराज यदु आखेट के निमित्त अरण्य में गये। हिमालय के नीचे की छोटी-छोटी उपत्यकाओं के समीपस्थ वनों में वे विचरण करने लगे। वह न तो सम-भू-भाग ही था, न पार्वत्य प्रदेश ही। पर्वत के नीचे का बड़ा ही मनोहर प्रान्त था। सम्मुख ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखाई दे रहे थे, नीचे सम विषम पृथ्वी। छोटी-छोटी पर्वत की उपत्यकायें उसी प्रकार दिखाई देती थीं, मानो शत्रु के भय से भयभीत हुए सैनिक यहाँ आकर छिप गये हों। छोटी-छोटी नदियाँ पर्वतों से गिर रही थीं। गोल-गोल सफेद काले पर्वत-खण्डों के असंख्यों टुकड़े वहाँ थे। नाना प्रकार के पत्र, पुष्प और काँटों वाले वृक्ष खड़े थे। सर्प की भाँति स्वच्छ जल वाले टेढ़े-मेड़े बहुत

से नाले बह रहे थे। कहीं वृक्षों के सघन झुरमुट थे, कहीं-कहीं बिना वृक्ष की समभूमि भी दिखाई देती थी। हरिण, सिंह व्याघ्र आदि बहुत से जंगली जन्तु इधर से उधर घूम रहे थे। वहीं पर महाराज ने क्या देखा कि एक सघन वृक्ष के नीचे पाषाण का तकिया लगाये एक अवधूत मस्त पड़े हैं। शरीर उनका सुडौल है, मुखमंडल पर कान्ति छिटक रही थी, बिना किसी प्रकार की असुविधा का अनुभव किये वे निश्चिन्त पड़े ब्रह्मानन्द रूपी रस आस्वादन कर रहे थे। इस प्रकार घोर अरण्य में बिना किसी प्रकार की चिन्ता किये हृष्ट-पुष्ट अवधूत को देखकर; चक्रवर्ती महाराज यदु को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से उनके समीप गये और विधिवत् उन्हें प्रणाम करके पूछने लगे। "ब्रह्मन्! आप बड़े आनन्द में मग्न हुए लेटे हुए हैं। न आपको कोई चिन्ता है न शोक। सर्वथा बालकों की भाँति शोक-मोह से रहित होकर ब्रह्मानन्द रस का पान कर रहें हैं। किस गुरु से आपने यह ज्ञान सीखा है?"

महाराज यदु को अधिकारी समझकर भगवान् ने बताया—"राजन्! हमारा कोई एक गुरु नहीं, बहुत से गुरु हैं। अपनी बुद्धि से ही विचार द्वारा मैंने उनसे ज्ञान प्राप्त किया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कह कर भगवान् ने अपने पृथ्वी आदि चौबीस गुरुओं का नाम बताया और यह भी समझाया कि किस गुरु से मैंने कौन-सी शिक्षा प्राप्त की है। इस प्रकार उनसे गूढ़ ज्ञान की शिक्षा पाकर महाराज यदु भी दुःख से अपने को मुक्त समझकर द्वन्द्वरहित हो गये। इसी प्रकार महाराज अलर्क को भी भगवान् ने बड़ा गूढ़ उपदेश दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"महाराज अलर्क किनके पुत्र थे? इनकी भगवान् दत्तात्रेय से भेंट कैसे हुई?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ? महाराज अलर्क की माता मदालसा देवी ब्रह्मवादिनी थीं, उसने बाल्यकाल में ही दूध पिलाते-पिलाते अपने बच्चों को ब्रह्मज्ञानी बना दिया। वे घर-द्वार राज-पाट सब का मोह छोड़ कर वन को चले गये। मदालसा देवी के पति महाराज कुवलयाश्व ने अपनी पत्नी से कह कर अलर्क को राज्य के लिये रख लिया। जब महाराज वृद्ध हुए तो अलर्क को राजगद्दी देकर मदालसा देवी के साथ वन को चले गये। जाते समय मदालसा देवी एक तावीज में दो श्लोक रखकर पुत्र को दे गई और आदेश कर गई कि जब तुझ पर कोई घोर विपत्ति पड़े, तो इसे खोलकर पढ़ना। महाराज अलर्क ने उसे माता का प्रसाद समझ कर सुरक्षित रख लिया।"

पिता के चले जाने पर महाराज पुत्र की तरह प्रजा का पालन करने लगे। उनके पुत्र-पौत्र भी हो गये, किन्तु विषयों से उनकी आसक्ति नहीं हटी। उनके बड़े भाई जो विरक्त हो गये थे, उन्होंने सोचा—"हमारा भाई विषयों में फंसा रहे, यह उचित नहीं। किसी प्रकार इसके मन में भी विराग उत्पन्न कराना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने काशी के राजा से मिलकर महाराज अलर्क के ऊपर चढ़ाई कर दी, कि हमारा राज्य हमें दो।"

महाराज अलर्क ने कहा—"हमसे वैसे माँगो तो दे भी देते, युद्ध के भय से नहीं देंगे। काशिराज की सेना ने उनके क़िले को चारों ओर से घेर लिया। बाहर से सामान आने-जाने न दिया। तब तो महाराज अलर्क बड़े घबड़ाये। अब उन्हें माता के तावीज की याद आई। पवित्र होकर उन्होंने उस तावीज को खोला। जब उन्होंने उसे पढ़ा तब तो उनका शोक मोह सभी

जाता रहा। उसमें दो श्लोक थे।* पहिले का भाव तो यह था कि सभी का सब प्रकार से संग त्यागना चाहिये। यदि सबका संग न त्याग सके, तो केवल साधु पुरुषों का संग करना चाहिये। क्योंकि संग-दोष रूपी रोग की सत्संगति ही औषधि है। दूसरे का भाव यह था, कि सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना चाहिये। यदि ऐसा न कर सके तो केवल मुमुक्षता की कामना करनी चाहिये, क्योंकि कामना रूपी रोग की मोक्ष की इच्छा करना—यही एक मात्र औषधि है। सारांश यह कि मुमुक्षता को धारण करके सत्संग करना चाहिये।

इसे पढ़ते ही महाराज राजपाट छोड़कर भगवान् दत्तात्रेय की शरण में गये और जाकर उन्हें प्रणाम करके विनीत भाव से कहने लगे—"ब्रह्मन! मैं बड़ा दुखी हूँ, कामी, लंपट हूँ, विषयों में आसक्त हूँ, मेरे ऊपर कृपा कीजिये। मेरे दुःख को दूर कीजिये।"

मदालसा के पुत्र महाराज अलर्क को ब्रह्मज्ञान का पूर्ण अधिकारी समझ कर भगवान् दत्तात्रेय ने कहा—"राजन्! मैं अवश्य ही तुम्हारे दुःख अभी इसी क्षण दूर कर दूंगा; किन्तु तुम मुझे बता दो, कि दुख है किसको, तुम्हारे किसी अंग को दुःख है, या देह को दुःख है या देही आत्मा को दुःख है? दुःख का मूल मालूम होने पर अथवा रोग का निदान मालूम होने पर उसकी चिकित्सा की जाती है।"

---

* सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥ १
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत् कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥ २

यह सुनकर महाराज सोचने लगे - शरीर तो पंच-भूतों का बना है। इसको क्या दुःख? आत्मा दुःख-सुख से रहित ही है। उसे दुःख हो ही नहीं सकता। ऐसा ज्ञान होने पर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। तब भगवान् दत्त ने उन्हें योग-ज्ञान आदि का विस्तार के सहित उपदेश किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! दत्त भगवान् का वह उपदेश बड़ा ही महत्वपूर्ण दत्त गीता, मुमुक्षुओं के सभी संशयों को छेदन करने वाला है। यहाँ उसका विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता। आगे प्रसंगानुसार उसका वर्णन किया जायगा। जैसा ज्ञान भगवान् ने महाराज अलर्क को दिया था, वैसा ही भक्ताग्रगण्य, परम भागवत; पुण्यश्लोक, प्रातःस्मरणीय श्रीप्रह्लादजी को भी दिया था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परम भागवत असुराधिप महाराज प्रह्लाद की दत्त भगवान् से कहाँ भेंट हो गई?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! दत्त भगवान् का कोई आश्रम तो है नहीं, वे तो स्वेच्छानुसार इधर-उधर घूमते रहते हैं; किन्तु सह्य पर्वत के निकट कावेरी के तट पर वे प्रायः अधिक निवास करते हैं। एक दिन कावेरी के तट पर वैसे ही धूलि में पड़े लेट लगा रहे थे। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। अंग सभी हृष्ट-पुष्ट थे, देखने में बड़े ही सुन्दर लगते थे। मुख से प्रसन्नता फूट-फूट कर निकल रही थी। चिन्ता, विषाद का नाम भी नहीं था। इस प्रकार वे प्रसन्नवदन, आनन्द में मग्न पड़े ही हुए थे, कि दैवयोग से घूमते घामते, कुछ मंत्रियों के सहित प्रह्लादजी वहाँ आ पहुँचे। उन अवधूत दत्त भगवान् को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्ता हुई। उनके तेज, प्रभाव और मुखाकृति

को देखकर भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी समझ गये कि ये कोई पहुँचे हुए सिद्ध हैं। ऐसा विचार कर वे उनके समीप गये, चरणों में प्रणाम करके बड़े विनय के साथ पूछने लगे—"भगवन्! यह संसार तो चिन्ता का घर है। इसमें सभी को कुछ न कुछ चिन्ता लगी ही रहती है; किन्तु मैं देख रहा हूँ, आपको कोई चिन्ता ही नहीं, निर्द्वन्द्व हुए यहाँ एकान्त में ब्रह्मानन्द के सुख का अनुभव कर रहे हैं। यह भी बात नहीं कि आप में बुद्धि न हो, ज्ञान न हो, व्यवहार से अभिज्ञ हों। आप देखने में बड़े ज्ञानी, पंडित, व्यवहार कुशल जान पड़ते हैं। फिर भी आप सर्व संगों से रहित होकर यहाँ एकान्त में पड़े हैं। आप दुबले-पतले भी नहीं। धनिकों की तरह मोटे हैं। बिना धन के मुटाई होती नहीं। धन आता है, किसी व्यापार उद्यम से। आप व्यापार शून्य है, फिर ऐसे मोटे क्यों हैं?"

यह सुनकर अवधूत दत्तात्रेय हंस पड़े और बोले—"राजन्! और कोई मुझसे ये बातें पूछता तो मैं कभी भी उत्तर न देता, सुनकर भी अनसुनी कर जाता। जानकर भी अनजान बन जाता; किन्तु आप तो भगवत् भक्त हैं। आपने भगवान् की कृपा को प्राप्त किया है। आपकी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिये भगवान् ने खम्भ से अवतार धारण किया है। आपको देवता दैत्य सभी समान भाव से मानते हैं। इसीलिये मैं आपको उत्तर देता हूँ। महाराज! मेरे पास सन्तोष रूपी धन है। उसी से मैं मोटा बना हुआ हूँ। मैंने जन्म मरण के रहस्य को समझ लिया है, इसीलिये मुझे कोई भय नहीं है। मुझे प्रारब्ध पर विश्वास है। इसीलिये किसी प्रकार की चिन्ता नहीं। मुझे मानापमान का ध्यान नहीं। मैं इस विश्व को एक नाटक समझता हूँ। तटस्थ द्रष्टा की भाँति इसको

गति विधि को निर्लेप भाव से देख रहा हूँ। जब मैं अपने को कर्ता ही नहीं समझता, तो कर्म के अनुकूल प्रतिकूल फलों में दुखी-सुखी ही क्यों होऊँ। मैं इन सब प्रपंचों को भगवान् की माया समझ कर निज स्वरूप में मग्न हुआ निरन्तर ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करता हूँ।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इसी प्रकार भगवान् दत्तात्रेय ने प्रह्लादजी को अवधूत की रहन-सहन आदि सभी बातें बताईं। यहाँ उस विषय का विस्तार नहीं किया जा सकता। भगवान् दत्त अवधूत के ऐसे वचन सुनकर प्रह्लादजी को बड़ा हर्ष हुआ वे अपने को कृत-कृत्य हुआ समझ कर भगवान् दत्त के चरणों की वन्दना करके अपनी राजधानी में चले गये।"

ये भगवान् भुक्ति-मुक्ति दोनों ही को देते हैं। इनका आश्रय लेने पर कोई भी अकृत कार्य नहीं लौटता। महाराज आयु के कोई पुत्र नहीं था। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अन्त में वे पुत्र की इच्छा से इन्हीं भगवान् दत्त की शरण में गये। इन्हें देखते ही भगवान् ने समाधि लगा ली। सौ वर्ष तक समाधि में ही मग्न रहे। राजा बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इनकी सेवा करता रहा। जब समाधि खुलने पर राजा को सेवा में तत्पर देखा, तो दत्त भगवान् बड़े स्नेह से बोले—"राजन्! आप व्यर्थ मेरी क्यों सेवा कर रहे हैं। मैं तो उन्मत्त हूँ। मेरा आचार-विचार भी शुद्ध नहीं है। मैं अशुचि और मलिन रहता हूँ। विषयासक्त होने से सदा उच्छिष्ट बना रहता हूँ। आप किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषि की शरण में जायँ, उन्हीं की सेवा करें, वहीं आपका मनोरथ पूर्ण होगा।"

यह सुनकर बड़े ही विनीत भाव से हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"प्रभो! आप तो साक्षात् भगवान् हैं। आपको विधि

निषेध क्या ? मैंने तो आपकी शरण लेली है। अब मैं और कहीं नहीं जाऊँगा। राजा का ऐसा उत्तर सुनकर भगवान् फिर समाधिमग्न हो गये। महाराज फिर उसी प्रकार सेवा में तत्पर रहे।"

अबके समाधि से उठते ही भगवान् ने कहा—मनुष्य की खोपड़ी में मेरे लिये सुरा लाओ। महाराज ने तत्काल ऐसा ही किया। अब क्या था, भगवान् प्रसन्न हो गये। बोले—"राजन्! मैं प्रसन्न हूँ, जो चाहो वर माँगो।"

राजा ने कहा—"प्रभो! आप घट-घट के जानने वाले हैं, सर्वज्ञ अन्तर्यामी हैं। मुझे अपने वंश चलाने वाले एक पुत्र की इच्छा है।"

भगवान् ने प्रसन्नता के साथ कहा—"राजन्! तुमने मेरी निष्कपट भाव से सेवा की है। वह कभी भी व्यर्थ नहीं जायगी। तुम्हारे एक लोक विश्रुत पुत्र होगा। उसका यश पृथ्वी और स्वर्ग में प्राप्त होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज आयु पुत्र का वरदान पाकर घर आये। कालान्तर में उनके एक पुत्ररत्न हुआ; जो नहुष के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हुआ मुनियो! महाराज, नहुष का चरित्र बड़ा ही विलक्षण है, इसे प्रसंगानुसार चन्द्रवंश के कथा प्रसंग में कहूँगा।

इस प्रकार भगवान् दत्तात्रेय ने अनेकों मुमुक्षुओं को ज्ञानोपदेश दिया। अनेक कामार्थियों की कामना पूर्ण की। दक्षिण दिशा में भगवान् अधिक विचरते थे, अतः इस अवतार की मान्यता दक्षिण में ही विशेष है। उधर दत्त भगवान् के बहुत से मन्दिर हैं, उनके नाम के मेले लगते हैं और बहुत से दत्त-उपासक उन्हीं की उपासना करते हैं। मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में

दत्त भगवान् के चरित्र का दिग्दर्शन मात्र करा दिया। प्रसंगा-नुसार फिर यथास्थान इनके उपदेशों का वर्णन किया जायगा।"

छप्पय

'श्रद्धा' पत्नी सती 'अंगिरा' मुनि की गुणवति।
कन्या राका कुहू सिनीवाली अरु अनुमति॥
गुरु, उतथ्य द्वै पुत्र कहूँ अग्रिम संतति पुनि।
ऋषि, पुलस्त्य की पत्नि "हविर्भू" ने अगस्त्य मुनि॥
द्वितिय विश्रवा सुत जने, धनाधीश तिनके तनय।
कुंभकरण रावण भये, और विभीषण महाशय॥

देवहूति की कन्याओं के वंश का वर्णन

[१७५]

एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्धानस्य सद्यः पापहरः परः ॥*

(श्री भग० ४ स्क० १ अ० ४६, श्लो०)

छप्पय

'गति' पत्नी तैं 'पुलह' जने प्रिय तीनि योगयुत ।
कर्मश्रेष्ठ अरु वरीयान तीसर सहिष्णु सुत ॥
'क्रतु' की पत्नी 'क्रिया' बालखिल्यादिक मुनिवर ।
जने 'अरुन्धति' माँहि वशिष्ठहु, शक्ति गुणाकर ॥
अमल 'अथर्वण' पत्नि 'चिति', के दधीचि सुत ह्वै गये ।
'भृगु' सुत धाता 'ख्याति' तैं, और विधाता श्री भये ॥

पीछे हम बता चुके हैं, कि नित्य, मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध जीव चार प्रकार के होते हैं। उनमें नित्य जीव वे कहलाते हैं, जिनकी आयु एक कल्प की होती है, अर्थात् एक हजार

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! यह मैंने आपसे महामुनि कर्दम की लड़कियों, पुत्र आदि का वर्णन किया। जो पुरुष इस मनुपुत्री देवहूति के वंश को श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं, उनके पापों को यह कथा तुरन्त नष्ट कर देती है।"

चौकड़ी तक वे जीते हैं। कल्प को प्रलय होने के अनन्तर बहुत से तो मुक्त हो जाते हैं, बहुत से फिर दूसरे कल्प में उत्पन्न होते हैं। बहुत से ऐसे होते हैं, कि ब्रह्माजी की आयु पर्यन्त बने रहते हैं, उनमें बहुत से ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाते हैं। बहुत से महाप्रलय के अनन्तर दूसरे ब्रह्मा के होने पर उनके साथ पुनः उत्पन्न होते हैं। ये अधिकारी जीव कहलाते हैं। दूसरे साधारण जीव होते हैं, जिनकी आयु सौ वर्ष की बताई है। सतयुग में ऐसे जीवों की आयु चार सौ वर्ष की होती है। त्रेता में तीन सौ वर्ष की, द्वापर में दो सौ वर्ष की और कलियुग में सौ वर्ष की। जो योग के द्वारा काल को जीत लेते हैं वे चाहे जब तक शरीर धारण किये रहें वे देश, काल, अवस्था के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

बहुत लोग ऐसी शंकायें किया करते हैं, सूर्यवंश की सैकड़ों पीढ़ियाँ बीत गईं, किन्तु उनके गुरु वशिष्ठजी ज्यों के त्यों ही बने रहे और एक-एक राजा की आयु पचास-पचास, साठ-साठ हजार वर्ष की बताई गई है। यह क्या बात है? वशिष्ठजी मरे क्यों नहीं? ऐसा प्रश्न लोग बिना शास्त्रीय सिद्धान्त को समझे ही कर देते हैं। ये राजा जिनकी आयु पचास-पचास साठ-साठ हजार वर्ष बताई है। इनकी आयु एक मन्वन्तर की होती है। एक मन्वन्तर तक वे चाहें यहाँ रहे या स्वर्गादि लोकों में रहें। वे साधारण जीव नहीं होते। वशिष्ठजी की आयु जो ब्रह्माजी की आयु के बराबर है इनके सामने सैकड़ों इन्द्र, मनु बदल गये। यही नहीं, इन्होंने बहुत से ब्रह्माओं को भी बदलते देखा है, क्योंकि ये नित्य जीव हैं।

साधारण लोगों के चरित्र नहीं होते। उनका तो यही चरित्र है, खाना-पीना, विषय-भोग करना, परस्पर में वाद-विवाद

करना, अन्त में मेरी, तू तेरी करते-करते मर जाना। मोक्ष की इच्छा रखने वालों को ऐसे साधारण लोगों के चरित्र कभी नहीं सुनने चाहिये, क्योंकि इनके चरित्र तो संसार-बन्धन को और दृढ़ करते हैं। वे अपने पापों का ही वर्णन करेंगे। मैं वहाँ गया, ऐसा विषय-सुख भोगा; वहाँ ऐसा आनन्द आया, उससे मैंने यह कहा, वह कहा, आदि-आदि; किन्तु नित्य और मुक्त जीवों के चरित्र ऐसे ही होने पर भी वे हमें ऊँचे उठाते हैं, हमारी दृष्टि को विशाल बनाते हैं। उन चरित्रों में भी काम-कथायें होती हैं, जीव की स्वाभाविक दुर्बलताओं का उनमें भी वर्णन होता है, किन्तु वह विषयों से विरक्ति कराने वाले, काम से पराङ्मुख कराने वाले प्रसंग होते हैं। स्वाभाविक दुर्बलता के वश होकर मुनियों से भी अकर्तव्य कर्म हो जाता है, किन्तु वे उसमें लिप्त नहीं होते, आसक्त नहीं हो जाते, बँध नहीं जाते। अतः ऐसे प्रसंग आ भी जायं तो उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये। उनसे उपदेश ग्रहण करना चाहिये, कि इससे हम क्या शिक्षा ले सकते हैं।

पुराणों में साधारण लोगों का वर्णन नहीं होता, या तो नित्य, मुक्त और भगवद्भक्तों का वर्णन होता है या भगवान् और उनके अंश, कला आदि अवतारों का वर्णन होता है। सांसारिक लोगों के वर्णन सुनने हों, तो साधारण लोगों की लिखी मनोरंजक कहानियों को पढ़ना चाहिये। पुराणों में जिन ऋषियों का, जिन राजर्षियों का वंश वर्णन किया गया है, उसके पढ़ने सुनने से पुण्य होता है, अन्तःकरण पवित्र होता है, और इस सीमित पृथ्वी को ही सब कुछ माने बैठे हैं, यह भ्रम दूर होता है। ये महर्षि राजर्षि अपने-अपने अधिकारों का भोग करके उन अधिकारों से पृथक् होने पर भी स्वर्गादिक

ऊपर के लोकों में निवास करते रहते हैं। इस मन्वन्तर में जो इन्द्र है दूसरे में मनु हो सकता है, तीसरे में मनु पुत्र। इस मन्वन्तर में जो सप्तर्षि हैं, वे दूसरे मन्वन्तर में सामान्य ऋषि हो जाते हैं। जिस प्रकार वर्तमान राज्य परिषदों में जो इस वर्ष प्रधान मंत्री है, दूसरे वर्ष वह सभापति हो जाते हैं, तीसरे वर्ष साधारण मनुष्य की भाँति हो जाता है, किन्तु उसका पदच्युत होते ही वह मर नहीं जाता। अस्तित्व तो उसका बना ही रहता है। इन वर्शों के सुनने का अनन्त फल है, इसीलिये सभी पुराणों में विस्तार के साथ इनका बार-बार वर्णन आता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! मैं महाराज स्वायंभुव मनु की दूसरी पुत्री देवहूति की नौओं कन्याओं के वंशों का वर्णन कर रहा था। अब तक नौ में कला और अनसूया की सन्तानों का वर्णन किया। अब शेष सात के भी वंशों को संक्षेप में श्रवण कीजिये।"

भगवान् कपिल की तीसरी बहिन अर्थात् देवहूति की तीसरी पुत्री 'श्रद्धा' का विवाह अंगिरा मुनि के साथ हुआ था। उनके सिनीवाली, कुहु, राका और अनुमति नाम की चार कन्यायें हुईं। ये अमावस्या की रात्रि की चार संज्ञायें हैं। इन कन्याओं के अतिरिक्त बृहस्पति और उतथ्य नाम के दो पुत्र हुए। उतथ्य मुनि परम विरक्त हुए और ब्रह्मनिष्ठ भगवान् बृहस्पति देवताओं के गुरु हुए। स्वारोचिस मन्वन्तर में ये अधिकारारूढ़ हुए।

कर्दम मुनि की चौथी पुत्री 'हविर्भू' का विवाह पुलस्त्य जी के साथ हुआ। जिनके दुष्कर कर्म करने वाले भगवान् अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा नामक दो पुत्र हुए। अगस्त्य जी का विवाह लोपामुद्रा के साथ हुआ। ये इतने प्रतापी हुए कि एक चुल्लू में ही सम्पूर्ण समुद्र को सोख गये। प्रसंगानुसार

इनके चरित्रों का आगे वर्णन होगा। ये ही दूसरे जन्म में जठराग्नि हुए। दूसरे पुत्र विश्रवा बड़े तपस्वी और तेजस्वी हुए। इनके इडविडा और केकसी नाम की दो पत्नियाँ थीं। इडविडा के गर्भ से तो उत्तर दिशा के लोकपाल धनेश्वर भगवान् कुबेर का जन्म हुआ, जो पितृवंश से हुए और केकसी ने रावण, कुम्भकरण और विभीषण नाम के तीन पुत्र उत्पन्न किये, जो मातृवंश के कारण राक्षस हुए।

पाँचवीं पुत्री 'गति' का विवाह भगवान् पुलह के साथ हुआ, जिनके कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् और सहिष्णु नामक तीन पुत्र हुए।

छठीं पुत्री 'क्रिया' का विवाह महामुनि क्रतु के साथ हुआ, जिनके अंगूठे की पोर के बराबर साठ हजार बालखिल्य आदि ऋषि हुए। ये पेड़ों पर छोटे-छोटे फलों की भाँति उलटे लटके हुए घोर तपस्या करते हैं।

सातवीं पुत्री 'अरुन्धती' का विवाह भगवान् वशिष्ठ के साथ हुआ, जिनके चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्वण, वसुभृद्यान और द्युमान नामक सात पुत्र हुए, जो दूसरे मन्वन्तर में सप्तर्षि होंगे और भी सैकड़ों पुत्र थे, जिन्हें विश्वामित्र जी ने शाप दे दिया था। शक्ति नामक एक और भी पुत्र हुए, जिन्हें राक्षस ने खा लिया था। शक्ति के ही पुत्र भगवान् पराशर हुए। पराशर मुनि के ही यहाँ भगवान् वेदव्यास का अवतार हुआ जिनके तनय श्रीशुक हुए।

भगवान् कर्दम की आठवीं पुत्री 'चिति' का विवाह अथर्वण ऋषि के साथ हुआ। जिनके तपोनिष्ठ परम परोपकारी भगवान् दधीचि मुनि हुए, जिन्होंने देवताओं के कार्य के लिये अपनी हड्डियों तक को दे दिया, जिनसे इन्द्र का वज्र बना है। उन्हीं के पिप्पलाद मुनि हुए, जिन्होंने देवताओं के दाँत खट्टे किये थे।

महामुनि कर्दम के सकाश से मनुपुत्री भगवती अनसूया ने जो नौ कन्यायें उत्पन्न कीं उनमें नौवीं का नाम 'ख्याति' था। जिसका विवाह भगवान् भृगु के साथ हुआ। इन परम साध्वी ख्याति देवी की संसार में बड़ी ख्याति हुई, क्योंकि धाता, विधाता नाम के इनके दो बड़े ही यशस्वी पुत्र और 'श्री' नाम की एक कन्या भी हुई जो साक्षात् विष्णु भगवान् की पत्नी लक्ष्मी के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुईं। इनका ही नाम कमला है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मीजी तो समुद्र से उत्पन्न हुई थीं। ये भृगुपुत्री कैसे हुईं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, महाभाग! यह बात पुराणों में मैंने भी सुनी है कि लक्ष्मीजो समुद्र से उत्पन्न हुई हैं। लक्ष्मीजी का उत्पन्न होना, क्या वे तो श्रीनारायण की नित्य शक्ति हैं। उनकी न उत्पत्ति है न विनाश, फिर भी उपचार से उनका जन्म कहा जाता है। उनका आविर्भाव तिरोभाव कभी-कभी होता है। समुद्र से उत्पन्न होने के पूर्व भी तो वे थीं वहाँ से एक बार उनका आविर्भाव हुआ था। इसी प्रकार एक बार वे भगवान् भृगु के यहाँ भी ख्यातिदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुईं। इन्हीं के कारण तो महर्षि भृगु ने विष्णु भगवान् को शाप दिया था कि तुम्हें बार-बार अनेक योनियों में अवतार लेना पड़े। तभी तो भगवान् अवतार लेते हैं।"

यह सुनकर शौनकजी बड़े जोरों से हँस पड़े और बोले—"सूतजी! आप कभी-कभो तो बहुत ही विचित्र बात कह देते हैं। भला भगवान् को शाप लग सकता है? भगवान् को शाप देने की सामर्थ्य किसमें है? भगवान् शापवश अवतार लेते हैं या भक्तों पर कृपा करने के लिये?"

यह सुन सूतजो भी हँस पड़े और बोले—"अब, महाराज!

मैं क्या बताऊँ ? इसी का नाम तो भगवान् की माया है। भगवन् ! जैसे मकड़ी अपने मुँह से ही तो जाला बनाती है, फिर उसी में खेलती रहती है, ऐसे ही इन समस्त विश्व ब्रह्माण्डों की रचना वे श्रीहरि अपनी इच्छा से ही करते हैं, फिर अपने आप ही नाना रूप बनाकर क्रीड़ायें करते रहते हैं। उन्हें कौन शाप दे सकता है, कौन उन पर अनुग्रह कर सकता है ? उन्हीं की दी हुई शक्ति तो ऋषियों में है; किन्तु ऐसा न करें तो खेल न बने। इसलिये खेलने के लिये ये सब ढोंग रचते हैं।"

शौनकजी बोले—"अच्छा तो सुनाइये भृगु महर्षि ने किस प्रकार शाप दिया ? बात क्या थी ?"

सूतजी बोले—"अच्छा तो सुनिये।"

छप्पय

भृगु-पुत्री श्री संग व्याह कमलापति कीन्हों।
तिहि के कारण शाप विष्णु कूँ मुनिवर दीन्हों॥
हँसि के शौनक कहे—सूतजी गप्प न मारो।
देवे हरि कूँ शाप जगत् में कौन बिचारो॥
हँसे सूत बोले—विभो ! लीलापति लीला करैं।
बैठे बनिया बाट गहि, तोलैं इतकी उत घरैं॥

भृगु-पुत्री 'श्री'

[१७६]

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥*

(श्री भग० ४ स्क० १ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत सुनाओ शाप कहानी।
कस भृगु दीयो शाप खुंस क्यौं हरितैं मानी ॥
सूत कहैं—मुनि सुनो नगर इक विष्णु बनायो।
ऋद्धि-सिद्धि युत निरखि ताहि मुनि निज बतलायो ॥
बोले विष्णु विनोद प्रिय, दुहिता धन कस लेहु मुनि।
वक्र भृकुटि भृगु की भईं, जामाता के बचन सुनि ॥

जब तक हम इस संसार को नाट्यशाला नहीं मान लेते तब तक अवतार चरित्र बनते नहीं। जो स्वयं तृप्त हैं, आप्त काम हैं, उन्हें संसार की रचना करने की आवश्यकता ही क्यों

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! महामुनि भृगु ने अपनी ख्याति नाम्नी पत्नी में धाता नामक दो पुत्र उत्पन्न किये और श्री नामक एक कन्या उत्पन्न की, जो भगवान् की प्राणप्रिया और उनकी सेवा परायण लक्ष्मीजी हुईं।"

पड़ी ? किसलिये यह चित्र-विचित्र संसार रच डाला। अजन्मा होकर भी वे क्रीड़ा क्यों करते हैं, क्यों अनेक योनियों में अवतार धारण करते हैं ? क्यों देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों से युद्ध करते हैं, क्यों कभी-कभी डरपोक की भाँति रण से भाग खड़े होते हैं ? क्यों कभी-कभी निर्बलों की भाँति दैत्यों के सम्मुख पराजित से हो जाते हैं ? वे तो अज अच्युत हैं, अपराजित, अधोक्षज हैं। उन्हें कभी कोई पराजित कर हो नहीं सकता। सबके जनक हैं, सबके पालक और रक्षक हैं, अन्त में सभी का संहार करने की सामर्थ्य भी उन्हीं में है। वे ऐसी विपरीत क्रीड़ायें कभी-कभी क्यों करते हैं ?"

इसका उत्तर उनका विनोद है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई हो नहीं सकता। खेल में अच्छे बुरे सभी खेल खेले जाते हैं। नाटक में ऊँच-नीच सभी पात्र होते हैं। एक पात्र राजा बन आता है, दूसरा श्वपच तीसरा राज पुत्र, चौथा रानी, पाँचवाँ मुनि। मुनि ले जाकर राजा रानी और राजकुमार को श्वपच के हाथों बेच आते हैं। दर्शक न श्वपच के प्रति रोष करते हैं, न राजा का राजा की भाँति आदर करते हैं। उनकी दृष्टि में सभी पात्र एकसे हैं। राजा बनकर जिसने अपने अनुरूप अभिनय नहीं किया, तो सभी कहते हैं इसने अच्छा नहीं किया। श्वपच बनकर जिसने श्वपच के अनुरूप अभिनय किया; तो सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। भगवान् भी एक नाटक ही खेल रहे हैं। वे स्वयं इस नाटक के सूत्रधार हैं। सूत्रधार होने पर भी कभी-कभी रंगस्थली पर अभिनेता बनकर अभिनय भी दिखा जाते हैं और जब अभिनय दिखाते हैं, तो अपने सूत्रधारपने के अभिमान को पृथक् रख देते हैं। फिर छोटे से छोटा पात्र आकर उनकी अवहेलना करता है उसे वे सहते हैं और अपने स्वरूप के अनुरूप वैसा ही कार्य

करने लगते हैं। यही उनकी माया है। यही उनकी क्रीड़ा है। भगवत् चरित्रों को सदा यही सोचकर; इस सिद्धान्त को सम्मुख रख कर ही सुनना और पढ़ना चाहिये। जो ऐसा न करके खिचड़ी कर देते हैं, वे भ्रम में पड़ जाते हैं। पुराणों की कथाओं को गपोड़ेबाजी कहने लगते हैं। उन्हें कोई समझाना भी चाहे तो वे नहीं समझते। यह भी उन्हीं की माया है, जिसे वे जैसा नाच नचाना चाहते हैं; जिसकी जैसी बुद्धि बना देते हैं; जिससे जो कराना चाहते हैं वही कराते हैं, वैसा ही नाच नचाते हैं। जीव विवश होकर वैसा ही करता है। सूत्रधार जिस प्रकार डोरी घुमाता है पुत्तिका वैसे ही नाचती है। पुत्तिका में स्वयं नाचने की शक्ति नहीं, सूत्रधार यवनिका की ओट में बैठा यह सब करा रहा है। उसकी ही शरण जाया जाय तभी काम चले। नहीं तो भ्रम बना ही रहेगा। बच्चे कठपुतलियों को ही नाचने वाली बताते रहेंगे और हठपूर्वक अपनी बात पर बल देंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि भृगु के यहाँ जब श्रीदेवी उत्पन्न हुईं तो उनके रूप को देखकर माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ। वह संसार में अनुपम रूप लावण्यवती कन्या थीं, जो भी उसके रूप को देखता वही मुग्ध हो जाता। क्योंकि वे तो साक्षात् जगज्जननी लक्ष्मी ही ठहरीं। कुछ काल के अनन्तर वह लड़की बड़ी हुई। विवाह के योग्य होने पर भगवान् भृगु को बड़ी चिन्ता हुई। इस इतनी त्रैलोक्यसुन्दरी सर्वलक्षणसम्पन्ना कन्या को मैं किसे दूँ? तीनों लोकों में उन्होंने वर की खोज की, किन्तु उसके अनुरूप वर मिला ही नहीं। तब तो मुनि को बड़ी चिन्ता हुई। एक बार वे स्वेच्छा से घूमते-घामते वैकुण्ठ में पहुँच गये। विष्णु भगवान् के अनुपम रूप लावण्य को देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। हाथ जोड़कर उन्होंने विनय की—"प्रभो! मेरे एक

सर्वसुलक्षण-संपन्ना कन्या है, वह आपके अनुरूप ही है। यदि आप उसे ग्रहण कर लें, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हो।"

भगवान् तो यह चाहते ही थे, उन्हें इस बात का पता था कि मेरी प्राणप्रिया लक्ष्मीजी ने भृगु मुनि के यहाँ अवतार धारण किया है। अतः वे बोले—"मुनिवर! मुझे विवाह आदि की तो कुछ इच्छा है नहीं; किन्तु आपकी आज्ञा भी नहीं टाली जा सकती। अच्छी बात है, जैसा आप चाहते हैं वैसा ही होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मुनि की आज्ञा पाकर भगवान् ने उनकी पुत्री श्री को ग्रहण कर लिया और वहीं आनन्द से रहने लगे।" एक नगर भगवान् ने रचा था लक्ष्मीजी के लिए। पीछे भृगुजी उसे स्वयं लेना चाहते थे, इसी पर बात बढ़ गई? शापा-शापी की नौबत आ गई। मुनि ने शाप दिया तुम पृथ्वी पर दस अवतार लो। भगवान् ने इसे स्वीकार किया।

इसके अतिरिक्त एक प्रसंग शाप देने का और भी आता है। एक बार भृगुजी ने एक बहुत बड़ा यज्ञ आरम्भ किया। उन्हें भय था, कि दानव आकर मेरे यज्ञ में विघ्न करेंगे; अतः उन्होंने अपने जामाता श्रीविष्णु को बुलाकर कहा—"विष्णु! मैं एक यज्ञ कर रहा हूँ, आप दानवों से उसकी रक्षा करेंगे न?"

भगवान् ने कहा—"हे तपोधन! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, आप निश्चिन्त होकर यज्ञ करें।" मुनि ने भगवान् के बचन सुनकर यज्ञ की दीक्षा ली और आनन्दपूर्वक यज्ञ करने लगे। भगवान् विष्णु वहाँ रह कर उसकी रक्षा करते रहे। दैवयोग से उसी समय दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई की। देवताओं में शारीरिक बल तो दैत्यों की बराबर है नहीं, वे तो विष्णु के ही बल त्रैलोक्य में पूज्य बने हुए हैं, जब वे अपने को ही कर्ता मानकर भगवान् को भूल जाते हैं, तभी दैत्य उन्हें दबा

कर स्वर्ग के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। पराजित होने पर जब इनका अभिमान चूर हो जाता है; तो फिर भगवान् विष्णु की शरण में जाते हैं। भगवान् इनके अपराध को क्षमा करके दैत्यों को पराजित करके फिर इन्हें स्वर्ग की सम्पत्ति दिला देते हैं। ऐसा सदा होता आया है और जब-जब देवता भगवान् को भूल जायँगे, ऐसा ही होता रहेगा।"

हाँ, तो दैत्यों के चढ़ाई करने पर देवताओं का पक्ष निर्बल हो गया। इन्द्र दौड़े-दौड़े भगवान् की शरण में आये और रोते-रोते बोले—"भगवान् ! आप अकेले ही इस यज्ञ की रक्षा में फँसे हैं, हमारा तो सर्वस्व नष्ट हो रहा है। दैत्य हमें स्वर्ग से खदेड़ रहे हैं। हमारी एक मात्र आप ही शरण हैं। आपके शरणागतों को ऐसा कष्ट न होना चाहिए। जिसने आपके चरणों की शरण ली है, उसकी कभी पराजय हो ही नहीं सकती।"

इन्द्रादि देवताओं के ऐसे करुणापूर्ण विनीत वचन सुनकर भगवान् ने अपना शार्ङ्गधनुष उठाया और सोचा—"मुनि तो यज्ञ कर ही रहे हैं, अभी दैत्यों को परास्त करके आ जाता हूँ।" यह सोचकर शरणागत-वत्सल भगवान् देवताओं के साथ दैत्यों से लड़ने चले गये। दानव तो छिद्र देख ही रहे थे। जब भृगु के यज्ञ से विष्णु ही चले गये, तो उसमें सार ही क्या रहा? उस निस्सार यज्ञ को दानवों ने आकर भंग कर दिया। मुनि को बड़ा क्रोध आया। क्रोध से वे लाल-लाल आँखें किये बैठे ही थे, कि इतनी ही देर में दैत्यों को परास्त करके दौड़े-दौड़े भगवान् आये। भगवान् को देखते ही मुनि मारे क्रोध के आग-बबूला हो गये और बोले—"विष्णु ! तुम बड़े झूठे हो? देखो, तुमने मेरे यज्ञ की रक्षा की प्रतिज्ञा की थी। फिर भी तुमने यज्ञ रक्षा नहीं की। प्रतिज्ञा भंग करके बीच में ही यज्ञ को अधूरा

छोड़कर तुम दैत्यों से युद्ध करने चले गये, अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ—दस जन्मों तक तुम्हें भिन्न-भिन्न शरीरों में पृथ्वी पर जन्म लेना पड़े।

भगवान् तो सैर-सपाटे की बात सोच ही रहे थे। क्षीरसागर में-बैकुण्ठ में श्वेत द्वीप आदि में—पड़े-पड़े उनका मन ऊब सा गया था। पृथ्वी पर जन्म लेकर वे यहाँ की भी छटा देखना चाहते थे, अतः भृगुजी का शाप सुनकर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! आपका शाप मुझे शिरोधार्य्य है और भी कोई शाप देना हो तो दे लीजिये।"

भगवान् के विनीत वचन सुनते ही मुनि का क्रोध शान्त हो गया, वे उनके पैरों पर गिर पड़े और दुखित होकर क्षमायाचना करने लगे। भगवान् ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठाया और बोले—"मुनिवर! आप चिन्ता न करें, यह तो मेरी इच्छा से ही हुआ है। नहीं तो मुझे शाप देने की सामर्थ्य किसमें है? यह सुनकर मुनि को संतोष हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के शाप के अनेक कारण बताये जाते हैं। कहीं नारदजी ने शाप दिया, ऐसा उल्लेख है। कहीं वृन्दा ने शाप दिया, किन्तु वास्तविक बात यह है, कि न उन्हें किसी का शाप लगता है न वरदान। जब वे जैसा चाहते हैं वैसा बानक बना लेते हैं, किसी को अपने क्रीड़ा में निमित्त कर लेते हैं। जहाँ भी वे उत्पन्न होते हैं; वहीं उनकी चिरसंगिनी लक्ष्मीजी भी जन्म धारण करती हैं। वे उनके बिना रह ही नहीं सकतीं। एक जन्म में वे भृगु की पुत्री हुईं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में भृगु-पुत्री 'श्री' के सम्बन्ध से भगवान् के शाप की कथा सुनाई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने लक्ष्मीजी के

विवाह की बात तो बताई; किन्तु भृगु मुनि के जो धाता विधाता नामक दो पुत्र हुए उनका विवाह हुआ या नहीं। उनका आगे कैसे वंश चला इसे आप कृपा करके और सुनावें।"

शौनकजी के ऐसा पूछने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो, महर्षि भृगु के दोनों पुत्र धाता, विधाता का विवाह मेरु नामक परम यशस्वी मुनि की भाग्यवती आयति और नियति नामक कन्याओं के साथ क्रमशः हुआ। धाता के गर्भ से आयति में मृकण्ड नामक मुनि हुए, जिनके पुत्र मार्कण्डेय संसार में चिरजीवी के नाम से विख्यात हैं। विधाता के नियति के गर्भ से प्राणनामक मुनि हुए और प्राण के पुत्र मुनिवर वेदशिरा हुए। धाता, विधाता के अतिरिक्त भगवान् भृगु के एक तीसरे पुत्र कवि भी थे जिनके पुत्र काव्य कहलाये। उनका दूसरा नाम उशना या शुक्राचार्य भी है, जो असुरों के पुरोहित और गुरु हुए।"

इस प्रकार भगवान् कर्दम की इन नव पुत्रियों की सन्तानों के और भी बहुत सी सन्तानें हुईं, जिन्होंने इस सम्पूर्ण संसार को सन्ततियों से भर दिया। ब्रह्माजी अपने फलते-फूलते पौत्र प्रपौत्र और नगड़ पौत्रों को देखकर फूले नहीं समाते थे। ब्रह्माजी का तो एकमात्र उद्देश्य सृष्टि की वृद्धि करना ही है। उनके पुत्र कर्दमजी ने नव पुत्रियाँ उत्पन्न करके उनके द्वारा इतनी सन्तानें पैदा कर दीं, कि सृष्टि का कार्य आनन्द से चलने लगा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में मैंने यह स्वायंभुव मनु की आकृति और देवहूति दो कन्याओं के वंश का वर्णन किया। अब तीसरी प्रसूति के वंश का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

शाप दयो तुम विष्णु जन्म दस भू पै धारौ।
हरि बोले—"मुनि शिरोधार्य है शाप तिहारो ॥
पाणि ग्रहण यों विष्णु कर्‌यो भृगु पुत्री श्री तैं।
श्री भ्रातनि ने कर्‌यो ब्याहु आयति नियती तैं ॥
तिनके तनय मृकण्ड अरु, प्राण भये भृगु तृतिय सुत।
कवि तिनके उशना भये, असुर पुरोहित तेजयुत ॥

तृतीय मनु पुत्री प्रसूति के वंश का वर्णन

[१७७]

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ।
तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः ॥
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १ अ० ४९, ४८ श्लोक)

छप्पय

तीसरि पुत्रि प्रसूति दई मनु दक्षप्रजापति ।
सोलह कन्या जनीं कमलनयनी सुन्दरि अति ॥
श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति उन्नति अरु तुष्टी ।
क्रिया, तितिक्षा, बुद्धि, मूर्ति, मेधा ह्री पुष्टी ॥
तेरह दीन्हीं धर्म कूँ, स्वाहा अगिनी कूँ दई ।
स्वधा विवाही पितृगण, सती शम्भु पत्नी भई ॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! मनु महाराज की सबसे छोटी तीसरी पुत्री का विवाह ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति के साथ हुआ।"
जिससे उन्होने सोलह पवित्र नेत्र वाली पुत्रियाँ पैदा कीं । उनमें से तेरह का विवाह धर्म के साथ किया । एक अग्नि को दी, एक समस्त पितरों को तथा एक सम्पूर्ण संसार का संहार करने वाले शंकरजी को दी ।"

एक किसान के घर में नई बहू आई। बहू की आदत कुछ चोरी करने की थी। सास की जहाँ आँख बची, वहीं, जो चीज मिलो उसे खा जाती। दूध रक्खा है; तो उसकी मलाई ही चट कर जाती। दही रखा है तो उसमें बूरा डाल कर पी जाती, घी उड़ा जाती। कुछ न मिलता तो मट्ठा ही पी जाती। सास उसकी इस टेव से बड़ी दुखी रहती। एक दिन उसका बड़ा भाई आया। सास उसी के सामने उसकी बुराई करने लगी—"देखो, लल्लू! तुम्हारी माँ ने तुम्हारी बहिन को ये ही बातें सिखाई हैं। मेरे घर में किसी वस्तु की कमी तो है नहीं। इसे जो खाना हो मुझसे माँगकर खाये, ऐसा न करके सब वस्तुओं को चुरा-चुरा कर खा जाती है। दूध पी जाती है, मलाई खा जाती है, मक्खन उड़ा जाती है, घी चाट जाती है, दही चट कर जाती है, मट्ठा पी जाती है।"

सब सुनकर भाई ने कहा—"पगली है, पगली।"

सास ने पूछा—"ऐसी भी क्या पगली। ऐसी टेव तो अच्छी नहीं होती। कभी कोई एक आध वस्तु पर मन चला, खाली। यह क्या कि जो मिली उसी को गप्प कर गई।"

भाई ने कहा—"यही तो मैं भी कहता हूँ। उसे दही, मट्ठा, घी, मक्खन, मलाई आदि खाने की आवश्यकता ही क्या? नित्य दूध को ही पी जाया करे। दूध से ही तो ये सब वस्तुएँ बनती हैं। मूल में पानी देने से शाखा पत्ती सब हरी हो जाती हैं। घर के स्वामी से मैत्री करने से उसके लड़का, लड़की, स्त्री, बच्चे सभी अपने हो जाते हैं। मूल दूध है। बहुत झंझट न होगा और सबका सार मिल जायगा।" भाई की यह बात सुनकर सास हँस पड़ी।

यह तो हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्त यों समझना चाहिये।

सब सद्गुणों का मूल कारण है धर्म। जो धर्म को नहीं छोड़ता दृढ़तापूर्वक अपने धर्म की रक्षा करता है, उसके समीप सभी सद्गुण स्वतः ही आ जाते हैं। सभी सद्वृत्तियाँ धर्म की पत्नी हैं, सभी सद्गुण धर्म के पुत्र-पौत्र हैं। धर्म मूल है, सद्गुण उसके शाखा पत्ते आदि हैं। धार्मिक पुरुषों के समीप सद्गुण का वास होता है। धर्म को छोड़कर जो सद्गुणों को अपने पास बुलाना चाहे, तो उसका प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि कोई भी सत्पुत्र अपने पिता से द्वेष करने वाले के समीप चिरकाल तक न रहेगा, उससे मैत्री न करेगा। धर्म के सकाश से ही उनकी पत्नियों में सद्गुणों का जन्म होता है। उसी के वंश को मैत्रेय मुनि विदुरजी से कह रहे हैं।

महामुनि मैत्रेय ने कहा—"विदुरजी! आदि स्वयंभुव मनु के तीन पुत्री और दो पुत्र हुए। यह बात मैं आपको पीछे बता ही चुका हूँ। उनकी पुत्रियों में से आकूति और देवहूति के वंश का वर्णन तो मैं संक्षेप में पीछे कर ही चुका हूँ। अब आप उनकी तीसरी पुत्री प्रसूति के वंश को सुनिये।"

मनु पुत्री प्रसूति बड़ी ही धर्म परायण थी। अधर्म से वह सदा डरती थी। वह कोई भी ऐसा कार्य न करती, जो धर्म से तनिक भी विरुद्ध होता। महाराज मनु ने देखा मेरी पुत्री बड़ी ही धर्मपरायण है; इसका विवाह किसी परम धर्मनिष्ठ तेजस्वी प्रजापति से ही करना चाहिये। उन्होंने बहुत खोज की किन्तु ऐसा तेजस्वी धर्मात्मा कोई न मिला। किसी में कुछ त्रुटि निकल आती, किसी, में कोई त्रुटि दिखाई देती। यह देख कर महाराज मनु को बड़ी चिन्ता हुई। तब वे दक्ष प्रजापति के ही समीप गये और बोले—"हे प्रजापति! आप दूसरे ब्रह्माजी के ही सदृश है। भगवान् ब्रह्माजी से आपकी उत्पत्ति हुई है,

आप मेरी सर्वगुण सम्पन्ना परम सुशीला पुत्री प्रसूति से विवाह कर लीजिये। वह आपके सर्वथा अनुकूल ही है। उसे पत्नीरूप में पाकर आप परम प्रसन्न होंगे। दक्ष तो अपने वंश का विस्तार करने के निमित्त विवाह करना चाहते ही थे किन्तु अभी तक अपने अनुरूप कोई पत्नी न पाने से कुमार ही बने रहे। जब आदि राजा स्वायंभुव मनु अपनी सर्वसुलक्षणा कन्या को उन्हें देने को उत्सुक हुए, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बोले—"राजन्! विवाह करने की तो मेरी इच्छा है किन्तु जैसी मैं चाहता था, वैसी पत्नी आज तक मुझे मिली नहीं। अब आपकी पुत्री की प्रशंसा सुनकर मुझे परम हर्ष हुआ। मैं उस सर्वसद्-गुणसंपन्न प्रसूति देवि का पाणि ग्रहण प्रसन्नता पूर्वक करूँगा।" यह कहकर प्रजापति दक्ष ने मनु-पुत्री प्रसूति का पाणिग्रहण शास्त्रीय विधि से कर लिया। उन प्रसूति देवी में प्रजा उत्पन्न करने में परम दक्ष श्री प्रजापति दक्ष ने सोलह कन्याओं को उत्पन्न किया। वे सभी अनुपम रूप-लावण्य-युक्त परम सुन्दरी सुशीला और सुन्दर लक्षणों वाली थीं। उन सोलह में से प्रजा-पति दक्ष ने तेरह का विवाह तो साक्षात् धर्म के साथ कर दिया। एक अग्नि देवता को दी। एक सभी पितरों को और एक विश्वसंहारक शिव जी को दी। अब धर्म की तेरह पत्नियों के वंश को सुनिये।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! धर्म नामक कोई ऋषि थे, या ये ही धर्म देवता?"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! ऐसी शंका तो वे पुरुष करते हैं, जो परलोक को नहीं मानते। वे इसी लोक को सब कुछ समझते हैं। जो देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व आदि योनियों को मानते ही नहीं। जो विद्वान पुरुष को ही

देवता कहते हैं, भूत का अर्थ पंच भूतों से है। आप तो परलोक, शास्त्र, देवता सभी मानते हैं। धर्म के एक अधिष्ठातृ देव हैं, जो मूर्तिमान हैं, नित्य हैं। सृष्टि के साथ ही, अन्य ऋषि प्रजापतियों की भाँति वे भी भगवान् के स्तन देश से उत्पन्न होते हैं। अधर्म भी एक देव हैं। वे भगवान् की पीठ से उत्पन्न होते हैं। दोनों सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होते हैं और प्रलय तक रहते हैं। धर्म वक्षःस्थान से उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ हैं, अमृतमय हैं, ग्रहणीय हैं, प्रकाशमान् हैं। अधर्म पृष्ठ से उत्पन्न होने के कारण निन्द्य हैं, अग्राह्य है, तमोमय हैं, संसार-बन्धन को जकड़ने वाले हैं, यातना नरक आदि उनकी संतानें हैं। उन्हीं धर्म के साथ प्रजापति महाराज दक्ष की तेरह कन्याओं का विवाह हुआ।"

विदुरजी बोले—"हाँ महाराज ! यह तो सत्य ही है। देवता इन चर्म चक्षुओं से कलिकाल में दिखाई नहीं देते, वे तो उपासना द्वारा निर्मल दृष्टि से दीखते हैं। नास्तिक लोग तो प्रत्यक्ष को ही सब कुछ समझते हैं, उनके मत में तो भुवर्लोक, जनलोक आदि ऊपर-नीचे के लोक हैं ही नहीं। जो दीख रहा है वही सब कुछ है। मैंने उनका मत लेकर प्रश्न नहीं किया था; किन्तु मुझे शंका यह हुई कि इस नाम के ऋषि भी हो सकते हैं। हाँ, तो उन तेरह धर्म पत्नियों के नाम बताइये और उन तेरहों से जो संतानें हुईं, उनका संक्षिप्त विवरण सुनाइये।"

यह सुनकर महामुनि मैत्रेय कहने लगे—"विदुर जी ! प्रजापति दक्ष ने अपनी जिन तेरह कन्याओं को धर्म को दिया उनके नाम ये हैं श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति। ये ही धर्म की प्राणप्रिया वल्लभा सहचरी जीवन संगिनी प्यारी पत्नियाँ हैं। अब आप इनकी संतानों को सुनिये।"

विदुरजी बोले—"महाराज इन धर्मपत्नियों के नामों का संक्षेप में अर्थ और उनके पुत्रों के भी नामों का भाव समझाते जायँ। जिससे मेरा भी धर्म के प्रति अनुराग बढ़े, उनके स्त्री बच्चों के प्रति स्नेह श्रद्धा के भाव हों।"

यह सुनकर मैत्रेय जी हँस पड़े और बोले—"विदुर जी मन-सेधू से मैत्री हो जाने पर मेहरारू तो स्वतः भाभी बन जाती है। बच्चे अपने आप चाचा जी कहने लगते हैं। आप धर्म को पकड़े रहिये। उनके प्रति आपके मन में कभी असद्भाव न उठने पावें, फिर ये सब तो आपके मुँह को जोहती रहेंगी।"

हाँ, तो धर्म की प्रथम पत्नी का नाम है—'श्रद्धा'। गुरु और शास्त्र के वचनों पर विश्वास रखने का नाम है—श्रद्धा। जिसे गुरु के वचनों पर प्रतीति नहीं, जो शास्त्रों को नहीं मानता, उसकी श्रद्धा, श्रद्धा नहीं, वह तो तर्क को ही सब कुछ समझता है। तर्क उस स्वैरिणी स्त्री के समान है, जो कभी एक की बन कर रहती नहीं। जिसे पहिले ग्रहण किये हुये पति से श्रेष्ठ समझती है, उसी के पास पहिले पति को छोड़ कर चली जाती। वह स्थिर होकर एक का पल्ला पकड़ कर नहीं रह सकती। इसीलिये उसके बच्चे नहीं होते, उसे रोग हो जाता है। बच्चे होते भी है, तो अशुभ दर्शन, अकुलीन होते हैं। उनके कुल, गोत्र पिता का पता नहीं रहता, किसको वे पिता कहें? इसीलिये धर्मविरुद्ध तर्क की आस्तिक शास्त्रों में प्रतिष्ठा नहीं। तर्क करने की मनाई नही। किन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा रखकर धर्म-संगत तर्क करो। उसी धर्म की श्रद्धा नामक पत्नी ने 'शुभ' नाम का पुत्र उत्पन्न किया जो धर्म में श्रद्धा रखता है, उसका सदा शुभ अर्थात् कल्याण होता है। इसीलिये धर्म के वीर्य से श्रद्धा के गर्भ से शुभ नामक सुत उत्पन्न हुआ।

अब धर्म की दूसरी पत्नी का नाम है—'मैत्री'। हृदय से प्राणिमात्र को अपना सुहृद समझने की वृत्ति का नाम है मैत्री। देखिये—सब जीव भगवत् प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। कोई यह कहे कि मैंने यह घर बनाया, मैंने यह पेड़ लगाया, मैंने यह पुत्र उत्पन्न किया—उसका यह अभिमान व्यर्थ है। ये पंचभूत उत्पन्न न होते, तो कोई शरीर भी नहीं बन सकता था। भगवान् ही जीवों को उत्पन्न कराते हैं। जब ऐसी ही बात है, तो हम किसी से शत्रुता क्यों करें? सब हमारे सखा हैं, सब हमारे मित्र हैं। जो सदा ऐसा भाव रखता है, उसका मन सदा प्रसन्न रहता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता, सबसे उसे भय होता है। इसीलिये मैत्री को धर्म ने ग्रहण किया है। इस मैत्री देवी के गर्भ से धर्म के पुत्र 'प्रसाद' आह्लाद उत्पन्न हुए। जिसके हृदयरूपी मन्दिर में मैत्री देवी प्रवेश करती हैं, तो अपने नन्हें से पुत्र प्रसाद को गोद में लिये हुए ही आती हैं। उसके हृदय को आह्लाद की किलकारी से भर देती हैं।

धर्म की तीसरी पत्नी का नाम है—'दया'। बिना किसी शारीरिक सम्बन्ध के प्राणिमात्र के दुःख में दुखी होने की वृत्ति का नाम है—दया। कुछ लोग कहते हैं, मैं अपने बाल-बच्चों पर दया करके ऐसा करता हूँ। बाल-बच्चों पर दया नहीं होती उनके प्रति सहज मोह होता है। सम्बन्धियों के दुःख से दुखी होने का नाम है—कृपा। वह दया से बहुत छोटी है। दया तो देश, काल, पात्र की अपेक्षा नहीं करती। प्राणिमात्र उसकी सीमा है। जो सब पर दया के भाव रखता है उसको कभी किसी से भय नहीं होता है। भय सदा हिंसा से हुआ करते हैं, जिसने अपने हृदय से हिंसा के भावों को निकाल दिया है, प्राणिमात्र को अपना बन्धु समझकर उनके दुःख में दुखी होता है, उसे किसी

भय है ? यही कारण है कि धर्म की तृतीय पत्नी दया ने 'अभय' नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्मदेव की चौथी पत्नी का नाम है—शान्ति। चित्त में जब किसी प्रकार का उद्वेग न रहे, उस चित्त की शान्त वृत्ति का नाम 'शान्ति' है। मनुष्य दुखी कब होता है ? जब वह व्यर्थ की इधर-उधर की चिन्ता करता है तो नाना झंझटों से मन में अशान्ति हो जाती है। अशान्ति ही दुःख की जननी है। संसारी लोग सदा अशान्त बने रहते हैं। उसने आज मुझे ऐसी बात कह दी, उसने मेरा अपमान कर दिया। वह काम कैसे होगा ? उस कार्य को रुपये कहाँ से आवेंगे ? वह वस्तु मुझे कैसे मिलेगी ? मेरी वस्तु वहाँ रखी है, उसे कोई ले तो नहीं जायगा ? ये ही सब अशान्ति और दुःख के कारण हैं। जब इन सभी योग क्षेम की चिन्ताओं को श्रीहरि के चरणों में समर्पित करके मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है, तब उसके हृदय में एक अपूर्व शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। उस शान्ति से ही सुख नामक सुत उत्पन्न होता है। जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख नहीं अतः धर्म की शान्ति नामक भार्या ने सुख रूपी पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की पाँचवीं पत्नी है—'तुष्टि'। मनुष्य सदा बुभुक्षित बना रहता है। मुझे यह भी चाहिये, वह भी चाहिए, इससे भी तृप्ति नहीं। सौ मिल जायँ तो हजार की इच्छा, हजार मिल जायँ तो लाख की इच्छा। आज भर पेट खा लिया। फिर भी मन नहीं भरा, तुष्टि नहीं हुई। जब परिपूर्ण वस्तु को मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तो उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द होता है, जिसे मोद कहते हैं। लड्डू का नाम मोदक। खाने से मोद होता है, बच्चे बूढ़े सभी लड्डू पाकर प्रसन्न हो जाते हैं। मनस्तुष्टि होने

पर ही मोद होता है। तुष्टि मोद की माता है। अतः धर्म की तुष्टि नामक पत्नी ने मोदनामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की छठीं पत्नी का नाम है—पुष्टि, पुष्टि कहते हैं मुटाई को। जब माल खा-खाकर शरीर पुष्ट हो जाता है तो मन में अहंकार आता है—"मैं ऐसा हूँ, मेरे समान कौन है ?"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! जिस पुष्टि से अहंकार उत्पन्न होता है वह धर्म की पत्नी क्यों हुई ? अहंकार तो अधर्म का हेतु है ?"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी ! यह ठीक है कि सांसारिक पुष्टि से हुआ जो स्मय-अहंकार होता है वह विनाश का कारण है; किन्तु ज्ञान और भक्ति से हुई पुष्टि संसार-बन्धन को सदा के लिये छुड़ाने का कारण होतो है। जब विवेक, वैराग्य द्वारा मनुष्य निश्चय कर लेता है कि यह संसार अनित्य, क्षणभंगुर और नाशवान् है और ज्ञान इसको दृढ़ता से पुष्ट करता है तब यह भाव आता है 'सोऽहम्' में वही हूँ। जब चराचर में अपने इष्ट को देखने लगता है और भक्ति शास्त्र और गुरुजनों के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है, कि अणु परमाणु में राम-राम रम रहा है तब भक्त सबको नमस्कार करने लगता है। सबके प्रति उसके हृदय में आदर भाव उत्पन्न हो जाता है, तब वह स्वतः कहने लगता है 'दासोहम्' और सब मेरे स्वामी के रूप हैं। केवल मैं ही सबका दास हूँ।

इसलिये धर्म की षष्ठी पत्नी पुष्टि ने अपने गर्भ से अहंकार नामक सुत को उत्पन्न किया।

धर्म की सातवीं पत्नी का नाम क्रिया है। बिना क्रिया के कोई भी कार्य होता नहीं। सभी संयोग के लिये क्रिया की अपेक्षा है। हम किसी भी मार्ग के पथिक क्यों न हों, क्रिया का

आश्रय लेना ही पड़ेगा। क्रिया करने से ही योग उत्पन्न होता है। अतः क्रिया नामक धर्म की पत्नी में योग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

धर्म की आठवीं पत्नी का नाम है 'उन्नति' जिस क्षेत्र में हम कार्य कर रहे हैं उसमें हमारा अधःपात न हो, हम दिन-दिन ऊपर को उठते जायँ, उसमें सफलता प्राप्त करके उन्नत होते जायं, इसी को उन्नति कहते हैं। संसार में धन जन कुटुम्ब परिवार, पद प्रतिष्ठा की उन्नति से दर्प घमंड उत्पन्न होता है, पारमार्थिक उन्नति में अपने को बद्ध जीवों से पृथक् करके साधक समझने लगता है मैं बद्ध नहीं जिज्ञासु हूँ, मुमुक्षु हूँ, भगवत् कृपा पात्र हूँ। इसीलिए उन्नति का पुत्र दर्प हुआ।

धर्म की नवमी पत्नी का नाम है—'बुद्धि' सांसारिक बुद्धि के द्वारा सांसारिक अर्थों की प्राप्ति होती है। वही बुद्धि सूक्ष्म होकर परमार्थ-चिन्तन में लग जाती है, तो उससे परम अर्थ मोक्ष की सिद्धि होती है। बुद्धि की शरण में जाने से मनुष्य की सभी चिन्तायें दूर हो जाती हैं। निरर्थक ही पुरुष चिन्ता करता है। जहाँ बुद्धि का आश्रय लिया और बुद्धि अपने बच्चे अर्थ को लेकर हमारे हृदय में पधारी नहीं कि हमारे सभी श्रम सार्थक होते हैं। अतः बुद्धि का पुत्र अर्थ हुआ।

धर्म की दशवीं पत्नी का नाम है—'मेधा'। मेधा और बुद्धि में अन्तर है। बुद्धि विचार से उत्पन्न होती है। मेधा बिना अभ्यास के शुद्ध अन्तःकरण में स्वतः प्रकाशित होती हैं। हमें संसार में नाना दुःख होते हैं। फिर भी हम संसार में फँसे ही रहते हैं, उसे छोड़ने की इच्छा नहीं करते। कारण कि हम दुःखों को कालन्तर में भूल जाते हैं। यदि विस्मृति आकर हमारे दुःखों को नष्ट न करे, तो इस संसार में कोई भी बुद्धिमान अधिक

दिन रहने की इच्छा न करे किन्तु धन्य है, विस्मृति देवी को कि जो बड़े से बड़े दुःख पर काला परदा डालती जाती है। मेधा से स्मृति उत्पन्न होती है—एक जन्म की ही नहीं अनेक जन्मों की। इन जन्म जन्मान्तरों की स्मृति से वैराग्य होता है। सभी दुःखों का स्मरण करके चित्त संसार से हट जाता है। मेधावी पुरुष ही इस अगाध सागर को अपनी विलक्षण स्मृति के द्वारा पार कर सकता है। अतः धर्म पत्नी मेधा ने स्मृति नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की ग्यारहवीं पत्नी का नाम–'तितिक्षा'! आये हुए दुःख-सुखों को बिना प्रतीकार किये सहर्ष सहन करने का नाम तितिक्षा है। रोग हो जाने पर हम उसकी औषधि करते हैं, जाड़ा लगने पर रुई, दुई, धुई का आश्रय लेते हैं। यह सब न करके जीवन को प्रारब्ध पर छोड़ देना। आज हम निरन्तर दुःखों की निवृत्ति और सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। दुःख वास्तव में कुछ है तो नहीं। मन ने ही दुःख सुख की कल्पना कर रखी है। स्वप्न में कोई सिर काट रहा है, जब तक स्वप्न निवृत्त न होगा, तब तक वह स्वप्न का मिथ्या दुःख भी निवृत्त नहीं होगा। इसी प्रकार जब तक मन से अनुकूलता में सुख, प्रतिकूलता में दुःख के संस्कार नष्ट न होंगे, तब तक मनुष्य दुखी ही बना रहेगा। तितिक्षा से सुख-दुख में समता आती है, सहन शक्ति बढ़ती है, शरीर में से आत्मबुद्धि हटती है। आत्मा और देह में पृथक्त्व का भान होता है। इसी से क्षेम होता है। अतः-धर्मपत्नी तितिक्षा ने क्षेम नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की बारहवीं पत्नी का नाम है 'ह्री'। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति इन्द्रियसुखों में है। यदि धर्म बीच में खड़े न हों, तो यह मनुष्य प्राणी सर्वथा पशु बन जाय। जैसे पशु जहाँ

भी चारा मिल जाता है वहीं खाने लगते हैं, जहाँ भी शौच की इच्छा होती है वहीं सब के सामने शौचादि कर देते हैं जब जहाँ भी नींद आ जाती है वहीं सो जाते हैं, चाहे जिससे डर जाते हैं, चाहे जहाँ मैथुन करने लगते हैं, वे माता, बहिन, बेटी, गोत्र, जाति किसी का विचार नहीं करते; उसी प्रकार यदि धर्म का भय न हो, तो मनुष्य भी ऐसा ही हो जाय। धर्म हमें बताता है काम भोग करना हो तो उसे संयम से करो, भोजन, व्यवहार, सम्बन्ध करना हो, तो उसे सोच-समझकर शास्त्रानुकूल करो। इतना होने पर भी धर्म से लोग उतना डरते नहीं, क्योंकि धर्म तो पुरुष ठहरा। पुरुष, पुरुष से उतनी लज्जा नहीं करता। स्त्री को देख कर लजा जाता है। यदि लज्जा न हो, तो मनुष्य उच्छृखल हो जाय। माता, बहिन किसी की भी कान न करे, बड़ों की आज्ञा का पालन न करे। बहुत से पापों से मनुष्य लोक-लज्जावश बच जाता है कि कोई क्या कहेगा। बहुत से कार्य इच्छा न होने पर कुल, जाति, वंश, परम्परा के संकोच-वश करने पडते हैं। ऐसा न करेंगे तो सम्बन्धियों के सम्मुख लज्जित होना पड़ेगा। इस-लिए धर्म की पत्नी ही अर्थात् लज्जा के पुत्र का नाम है प्रश्रय। प्रश्रय कहते हैं विनय को, निर्लज्ज पुरुष में विनय कभी हो ही नहीं सकता।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! यह मैंने धर्म की बारह पत्नियों के पुत्रों का वर्णन अत्यन्त ही संक्षेप में किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो धर्म की तेरह पत्नी बताई थी। वंश तो आपने बारह का ही बताया। तेरहवीं कौन-सी हैं, उनके भी पुत्र का नाम बताइये।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि की आँखें भर आईं, प्रेम के कारण

उनका गला रुद्ध हो गया। वे कुछ काल के लिये मौन होकर ध्यानमग्न हो गये।

छप्पय

'शुभ' श्रद्धा के पुत्र, दया ने 'अभय' जन्यो सुत।
मैत्री पुत्र 'प्रसाद' शान्ति सुत 'सुख' शोभायुत॥
तुष्टि पुष्टि के तनय, 'मोद' अरु 'अहंकार' वर।
'योग' क्रिया के लाल, 'दर्प' उन्नति के सुखकर॥
बुद्धि 'अर्थ' मेधा 'स्मृती', 'क्षेम' तितिक्षा ने जने।
लज्जा के 'प्रश्रय' तनय, देव सरिस ये सब जने॥

भगवान् नर-नारायण का अवतार

[१७६]

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ।
यजोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १ अ० ५२, ५३ श्लो०)

छप्पय

सर्वगुणनि की खानि मूर्ति ने पुरुष पुरातन ।
विश्वम्भर श्रीकृष्ण जने हरि नर-नारायन ॥
जन्म समय सुर कुसुम गगन तैं बहु बरसामें ।
गामे गुन गन्धर्व देव वर वाद्य बजामें ॥
सब जग महँ मङ्गल भयो, साम गान ऋषि मुनि करहिँ ।
प्रभु प्रकटे अब जगत् को, शोक मोह तम सब हरहिँ ॥

उन अनन्त प्रभु के एक अंश में यह जगत् स्थित है और वे अज, अच्युत, अनादि, अनन्त, वासुदेव अनेक अवतार धारण करके विश्व में विहार करते रहते हैं। जो अज्ञानी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सम्पूर्ण गुणों की उत्पत्ति रूपा धर्मपत्नी श्री मूर्तिजी ने ऋषि रूप भगवान् नर-नारायण को उत्पन्न किया, जिनके जन्म से अत्यन्त आनन्दित होकर इस सम्पूर्ण चराचर जगत् ने प्रसन्नता प्रकट की।"

अवतार तत्त्व का रहस्य नहीं समझते, वे अनेक प्रकार की शंकाये किया करते हैं, यह कैसे हुआ ? एक समय में ही भगवान् के कई अवतार कैसे हो गये ? अरे भैया ! यह रहस्य गुड़ का पूआ तो है नहीं, जो गप्प मुँह में डाला और चट कर गये। कुछ दिन श्रम करो, सत्पुरुषों की सेवा करो; श्रद्धा सहित शास्त्रों का अध्ययन मनन करो, तब संभव है भगवत् कृपा हो और वे तुम्हारे हृदय में अपने अवतार का प्रयोजन प्रकट कर दें। तुम कहोगे— ये सब तो बहकाने की बातें हैं फँसाने की क्रियायें हैं। इसमें तो बहुत समय नष्ट होगा, तब तक तो हम कोई दूसरा महत्व का कार्य करके बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि जब तक तुम इस रहस्य को न समझोगे, तब तक कोई भी महत्व का कार्य नहीं है। सबसे महत्व का कार्य यही है। समय निरवधि है; वह असीम है, उसकी कोई सीमा नहीं। अतः वह तो नष्ट होता नहीं। एक नहीं लाख जन्मों में भी यह तत्त्व यदि समझ में आ जाय, तो हम लाभ में ही रहेंगे। जान में अनजान में सब उधर ही बढ़ रहे हैं, सभी के हृदय में वही ऊहापोह हो रही है। कोई प्रत्यक्ष में प्रयत्न कर रहा है कोई अप्रत्यक्ष में, बिना समझे अंधेरे में स्वभाव वश चला जा रहा है। जीव तो अन्धा है। वह स्वतः उस प्रकाशमय मार्ग की ओर बढ़ ही नहीं सकता, इसीलिये भगवान् अनेकों अवतार धारण करते हैं। श्रीकृष्ण, बलराम, नारद, व्यास, परशुराम, नर-नारायण इन सभी की अवतारों में गणना है। सभी एक साथ ही पृथ्वी पर उपस्थित थे। उन भूमा पुरुष के स्वरूप में इन अवतारों के धारण करने पर भी कोई विकार नहीं हुआ। उनके महत्व में कुछ न्यूनाधिक्य न हो सका। सब अवतारों के कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। ये नर-नारायण अवतार तपस्या

का आदर्श उपस्थित करने को अवतीर्ण हुए हैं। एक कल्प-पर्यन्त इनकी स्थिति बताई है। स्थिति तो इनकी नित्य ही है; किन्तु पृथ्वी पर ये इस रूप से इतने दिन अवस्थित रहते हैं। संयम का जितना आदर्श इस अवतार ने उपस्थित किया है वैसा किसी अवतार ने उपस्थित नहीं किया।"

जब महामुनि मैत्रेय का ध्यान भंग हुआ उन्होंने अश्रु भरे नेत्रों को अपने वल्कल से पोंछ लिया, तब हाथ जोड़कर विदुरजी बोले—"भगवन्! धर्म की तेरवीं पत्नी दक्ष प्रजापति की प्यारी पुत्री मूर्ति देवी ने ऐसे किन महाभाग सुत को उत्पन्न किया, जिनकी स्मृति मात्र से ही आपके शरीर में समस्त सात्त्विक भाव उत्पन्न हो गये?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि गद्गद कण्ठ से बोले—"विदुरजी! मूर्ति देवी के भाग्य की क्या प्रशंसा की जाय उनके गर्भ से तो स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही उत्पन्न हुए। जो दो रूप धारण करके तपस्या का महत्व बढ़ा रहे हैं, जो हम मुनियों के अग्रगण्य और आदर्श हैं, जो तपस्या की साकार मूर्ति हैं, जो आकल्पान्त बदरिकाश्रम में रह कर तपस्या करके उसका महत्व दर्शाते हैं। उनको शास्त्रों में नर-नारायण के नाम से बताया गया है।

ये दो होते हुए भी एक ही कहे जाते हैं, ये कभी पृथक् नहीं होते, सदा साथ ही साथ रहते हैं। जिस समय इन दोनों का जन्म हुआ उस समय सम्पूर्ण संसार सुखी हुआ सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। देवताओं ने हर्ष के कारण पारिजात के दिव्य पुष्पों की वर्षा की। ऋषि मुनियों ने अनेक वैदिक मन्त्रों से इनकी स्तुति की। गन्धर्व अपने सुरीले कण्ठों से इनके गुण गाने लगे। अप्सरायें अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखा कर नृत्य करने लगीं। ब्रह्मादिक समस्त देवता अपने-अपने विमानों पर चढ़ भगवती

मूर्ति के सदन के समीप आये और विविध प्रकार के मधुर वचनों से दोनों की स्तुति करने लगे।

साधारण देवता तो उनके स्वरूप को कैसे समझ सकते हैं, साक्षात् ब्रह्माजी ही उनकी स्तुति करने को तत्पर हुए। वे स्नेह-पूर्वक कहने लगे—"भगवन् आप तो वास्तव में अज और निर्विकार हैं, न कभी आप जन्म लेते हैं, न शरीर धारण करते हैं। लोग अपने-अपने भावों के अनुसार आपकी मनोमय मनोहर मूर्ति बना लेते हैं। भक्तों की इच्छानुसार आप भी वैसे ही हो जाते हैं। आप सत्य हैं, अतः आपके नाम रूप भी सत्य हैं। आप अपना दिव्य, योगमाया शक्ति के द्वारा नाना प्रकार की क्रीड़ायें करते हैं, जिनको सुनकर, गाकर संसार सागर में डूबते हुए प्राणी तर जाते हैं, उस पार पहुँच जाते हैं। इस समय आपने ऋषि रूप धारण कर लिया है। यह ऋषि रूप भी बड़ा विलक्षण है। यह हमारे मन को मोह रहा है, हमें हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

आपने इस संसार का स्वयं ही संकल्प द्वारा सृजन किया है, फिर उसकी एक मर्यादा स्थापित कर दी है; धर्म को रक्षा के लिये नियुक्त कर दिया है। जब अधर्म के द्वारा धर्म दबाया जाता है। आपको मर्यादा, आपकी क्रीड़ा से भंग होने लगती है, तो आप ही उसकी रक्षा के लिये अनेक रूप रख कर उसकी पुनः स्थापना करते हैं। यह रूप तो आपने अत्यन्त ही मनोहर, अत्यन्त ही नयनाभिराम, बड़ा ही मादक और मोहक बनाया है। आप अपने अमल-कमल के सदृश नयनों का मूँदे क्यों हुए हैं, उन्हें खोलिये। हम देवताओं की ओर दया की दृष्टि से देखिये, कमनीय कमल नयन की कोर से कृपा सहित हमारी ओर निहारिये।"

ब्रह्मादिक देवताओं की ऐसी विनती सुनकर भगवान् हंस पड़े और उन्होंने कृपापूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा। भगवान्
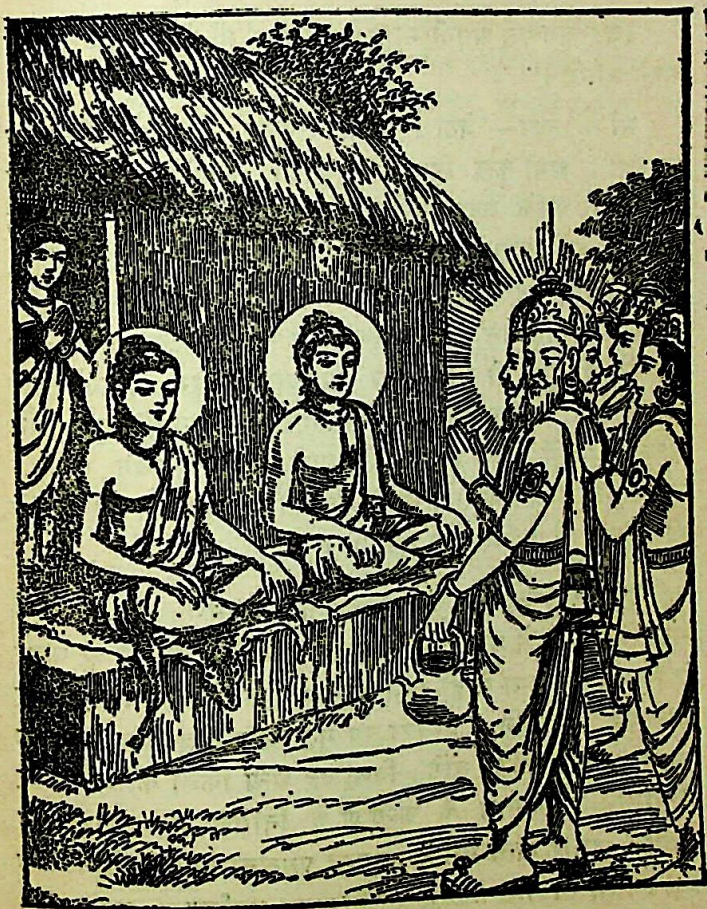
के दृष्टिपात होते ही सभी देवता अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। भगवान् के दर्शन करते-करते वे अघाते ही नहीं थे। इस प्रकार भगवान्

नर-नारायण का कृपाप्रसाद पाकर भगवान् की पूजा और परिक्रमा करके देवगण अपने-अपने धामों को चले गये।

इधर भगवान् अपनी माता से बोले—"माँ! हम अब तपस्या करने जायँगे।"

माँ ने कहा—"बेटा! अभी तपस्या की तुम्हारी क्या अवस्था। अभी कुछ दिन खेलो, खाओ, विद्या पढ़ो; ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करके वेदाध्ययन करते हुए गुरु और अग्नि की सेवा करो। फिर ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके गुरुदक्षिणा देकर, व्रत, स्नान के अनन्तर विवाह करो। अग्निहोत्र पूर्वक गृहस्थ बनो। धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन कर शास्त्रीय विधि से काम सेवन करो। जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब वानप्रस्थ आश्रम धारण करके वन में जाना। जब तपस्या करते-करते पूर्णज्ञान हो जाय, तब संन्यासाश्रम में प्रवेष करके मोक्षमार्ग का अवलम्बन करना। अभी तुम्हारी अवस्था तप करने की नहीं है, अभी तो तुम घर में ही रहकर माता-पिता को सुख दो।"

इस पर भगवान् नारायण बोले—"माँ! हमारा जन्म संसारी बन्धनों में फँसने के लिये नहीं हुआ है। हम तो ऋषिरूप से निरन्तर तपस्या में ही मग्न रहेंगे। एक ही आश्रम में रहकर हम घोर तप करेंगे। हमारा तप मृदु और तीव्र होगा। उसके नियम अत्यन्त कठिन होंगे, किन्तु वह अन्य किसी को क्लेशकर न होगा। प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त ही हमारा तप होगा। हमारे पिता धर्म हैं, उनकी प्रसन्नता इसी में होगी, कि हम स्वधर्म का पालन करते हुए निरन्तर धर्माचरण करते रहें। तपस्या में ही सर्वथा संलग्न रहें।"

माता ने कहा—"यदि तुम्हें जाना ही है, किसी प्रकार भी

तुम घर में रहना नहीं चाहते, तो मुझे भी अपने साथ ले चलो ।"

इस पर भगवान् ने कहा—"माँ ! अभी हमारा निश्चय नहीं, कहाँ रहें, कहाँ तपस्या करें ? हाँ, यदि कहीं स्थिर होकर रह जायँ, तो फिर देखा जायगा । तब तुम हमारे समीप आ सकती हो ।"

माता का हृदय भर आया । हाय ! इन साधु पुत्रों को पैदा करके मातायें कृतार्थ तो हो जाती हैं, उनका यश तो सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, किन्तु उनका हृदय सदा तड़पता रहता है ।

दोनों ने माता-पिता के चरणों की वन्दना की, उनकी प्रेम-पूर्वक प्रदक्षिणा की । फिर दोनों का आशीर्वाद लेकर दोनों को रोते छोड़कर वे तपस्या के लिये निकल पड़े । अनेक स्थानों में घुमते-घूमते, अनेक जीवों को अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हुए, वे गन्धमादन पर्वत पर स्थित बदरीनाथ क्षेत्र में चले गये और वहाँ रहकर घोर तपस्या करने लगे । वहीं इनकी ऊरु से उर्वशी अप्सरा उत्पन्न हुई । वहीं इन्होंने नारदजी को उपदेश दिया । नर छोटे थे, नारायण बड़े थे । फिर भी नर का नाम पहिले लिया जाता है ।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! नर छोटे होकर भी प्रथम क्यों बोले जाते हैं, मुझे भगवान् नर-नारायण के कुछ चरित्र सुनाइये ।"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"अच्छी बात है । वैसे तो नर नारायण के चरित्र अनन्त हैं । उनमें से कुछ मैं आपको सुनाऊँगा ।"

छप्पय

मूर्ति तनय सुकुमार मार सम मोहक मनहर।
नर-नारायण अमित तेज तप बल युत ऋषिवर ॥
ले अवतार प्रभाव तपस्या को प्रकटावें।
जनक जननि तैं कहैं तीव्र तप हित हम जावें ॥
त्यागी तनयनि तप करन, हित गृह त्यागत माँ निरखि।
करि दृढ़ हिय आज्ञा दई, विकल भई रोई विलखि ॥

भगवान् नर-नारायण की तपस्या

[१७७]

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्याम्,
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः ।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपम्,
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥*

(श्री भा० २ स्क० ७ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

उग्र तपस्या निरखि इन्द्र मन संशय करहीं ।
करिके तप ऋषि प्रवर इन्द्र आसन कूँ हरहीं ॥
काम कला महँ कुशल कामिनी तप नाशन कूँ ।
भेजीं बहु देवेन्द्र डिगा सकिं नहिँ ते इनकूँ ॥
भक्तराज प्रह्लाद हू, लखि प्रभाव विस्मय भये ।
नीमसारमहँ निवसि फिर, बदरीवन तप हित गये ॥

---

* ब्रह्माजी अवतारों की गणना करते हुए कहते हैं—धर्मदेव के यहाँ प्रजापति दक्ष की पुत्री मूर्ति के गर्भ से नर-नारायण भगवान् उत्पन्न हुए । उन्होंने अपने तप का प्रभाव प्रकट किया, देवराज इन्द्र की प्रेरणा से कामदेव की सेना स्वरूपा जो अप्सरायें उनके तप भंग करने की चेष्टा कर रही थीं, उनका सब प्रयास विफल हुआ । भगवान् के सम्मुख आते ही उनके मोहक हाव-भाव कटाक्ष सभी विफल हुए ।

तप को भगवान् का हृदय बताया है। जो निष्कपट निरहंकार होकर तपस्या करता है, वह श्रीहरि के हृदय में समा जाता है। श्रीहरि उसे अपने हृदय का हार बनाकर सदा कण्ठ में धारण किये रहते हैं। तप का सबसे बड़ा विघ्न है 'अहंकार' जहाँ तप में अहंकार ने प्रवेश किया, वहीं सब गुड़ गोबर बन गया। तप में बड़ा आकर्षण है, त्याग में बड़ी शक्ति है, जहाँ हमने विषयों का त्याग किया, तहाँ वे विषय जिनके लिए पहिले लालायित रहते थे, वे हाथ जोड़े सम्मुख खड़े रहते हैं, उनका भी निरहंकार भाव से जो त्याग कर देते हैं और अपने तप का त्याग या क्षय नहीं करते, वे ही तपस्वी हैं। जो काम, क्रोध और लोभ इन तीनों शत्रुओं से सदा सावधान होकर अपने लक्ष्य की ही ओर ध्यान रखते हैं, वे अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होते हैं। इस आदर्श को भगवान् ने नर-नारायणावतार में प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

पहले भगवान् नैमिषारण्य में तपस्या करने गये। वहाँ वे धनुष-बाण धारण करके घोर तपस्या में निरत हो गये। उन्होंने प्राणायाम के अभ्यास से अपने मन को वश में किया। इसी समय दैवयोग से तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रह्लाद जी वहाँ आ पहुँचे। घूमते-घूमते वे इनके आश्रम के समीप मन्त्रियों सहित पहुँच गये। ये दोनों भाई बड़े तेजस्वी थे, इनके तेज, तप से वे बड़े प्रभावित हुए; किन्तु इनके सम्मुख धनुष-बाण देख कर उन्हें संदेह हुआ। वे सोचने लगे—"तपस्या में धनुष-बाण का क्या काम ? तप तो दूसरों को अभयदान देकर, सब प्राणियों में मैत्री भाव करके किया जाता है। प्रतीत होता है, ये लोग ठग हैं, लोगों को ठगने के लिए इन्होंने यह वेष बना रखा है।" ऐसा मन में सोचकर उन्होंने नर से इसका कारण पूछा। दोनों

में बात ही बात में रार बढ़ गई। पहले कहा-सुनी हुई, फिर तनातनी होने लगी। तदनन्दर घुस्सा-घुस्सी लड़ाई-भिड़ाई और फिर अस्त्र शस्त्रों तक नौबत पहुँच गई।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या विचित्र बात कह रहे हैं आप ! प्रह्लादजी भगवान् के परम भक्त; ये दोनों भगवान् के अवतार फिर इनमें लड़ाई क्यों हो गई ?"

सूतजी यह सुनकर खिसियाने से कहने लगे—"अब महाराजजा इस 'क्यों' का तो कोई उत्तर ही नहीं। जय विजय भी तो भगवान् के पार्षद ही थे। वे हो हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकरण, दन्तवक्र, शिशुपाल बनकर भगवान् से क्यों लड़े ? परशुराम और राम दोनों ही अवतार थे। क्यों दोनों में तनातनी हो गई, बलराम श्रीकृष्ण दोनों ही अवतार थे, एक तुच्छ सी स्यमन्तक मणि के पीछे क्यों मनमुटाव हो गया भगवन् ! यह सब भगवान् का विनोद है। प्रह्लादजी भक्त हुए तो क्या हुआ थे तो असुर ही, कभी-कभी भगवान् उनके मन में भी विनोद के लिये आसुर भाव उत्पन्न कर देते हैं फिर अपने आप ही उसको निकाल देते है। एक बार विष्णु भगवान् से ही प्रह्लाद लड़ने को तैयार हो गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् से क्यों लड़ने को तैयार हुए ? यह कब की बात है ?"

सूतजी बोले—"अब महाराज ! फिर वही क्यों ? मैंने कह तो दिया लीलाधारी की लीला है। यह कथा प्रसंग बहुत बड़ा है, किन्तु संक्षेप में मैं आपको सुनाता हूँ। जब प्रह्लाद जी असुरों के राजा हो गये तो पुराने-पुराने मन्त्रियों ने उनके कान भरने आरम्भ किये। महाराज, सत्पुत्र वही है जो पिता का बदला ले। देखिये आपके पिता को, पिता के भाई को विष्णु

भगवान् ने व्यर्थ मार डाला। आप समर्थ हैं, चाहें तो उनका बदला लेकर पितृ ऋण से उऋण हो सकते हैं। यह सुनकर प्रह्लादजी के भी मन में आ गई। उन्होंने कहा—"बात तो ठीक है, हमें विष्णु से अवश्य बदला लेना चाहिये। असुरों की सम्पूर्ण चतुरंगिनी सेना सजाई जाय, हम विष्णु पर चढ़ाई करेंगे।" असुर तो यह चाह ही रहे थे। सेना सजकर तैयार हो गई और युद्ध के लिये सैनिक हँसते, खेलते, चिल्लाते, कोलाहल करते चल दिये। आगे चलकर सम्पूर्ण सेना ने शिविर डाला। भगवान् ने सोचा—"हमारे भक्त के हृदय में आसुर भाव आ गया है। वह हमारे प्रभाव को भूल गया है, उसे अपना प्रभाव दिखाना चाहिये।" यह सोचकर वे एक वृद्ध तपस्वी का रूप रखकर वहाँ कुटी बनाकर प्रकट हुए। थोड़ी-थोड़ी वर्षा हो रही थी, प्रह्लादजी घूमते-घामते वहाँ आ पहुँचे। वृद्ध साधु को देखकर प्रह्लादजी ने उन्हें प्रणाम किया। जाड़े से काँपते-काँपते बूढ़े ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! आप इतनी बड़ी सेना लेकर कहाँ जा रहें हैं?"

प्रह्लादजी ने कहा—"मेरे पिता को, पितृव्य को विष्णु भगवान् ने मार दिया है, उन्हीं से लड़ने जा रहा हूँ।" वृद्ध बोले—"अजी भक्तजी! सुना है विष्णु तो बड़े बलवान् हैं।"

अहंकार के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"हम क्या किसी से कम हैं?" अवहेलना के साथ वृद्ध बोले—"ना, आपको कम कौन कहता है। देखो, मुझसे यह लकड़ी उठती नहीं, इसे अपने नौकरों से उठवाकर मेरी कुटी में पहुँचा दो।"

यह सुनकर प्रह्लाद जी हँस पड़े—"इतनी छोटी लकड़ी भी आपसे नहीं उठती?"

हाँफते हुए वृद्ध ने कहा—"क्या करूँ राजन्! बूढ़ा हो गया

हूँ। शरीर को ही उठाना भार हो गया है। आप समर्थ है, इतनी सेना वाले हैं, मेरा यह काम करा दें।"
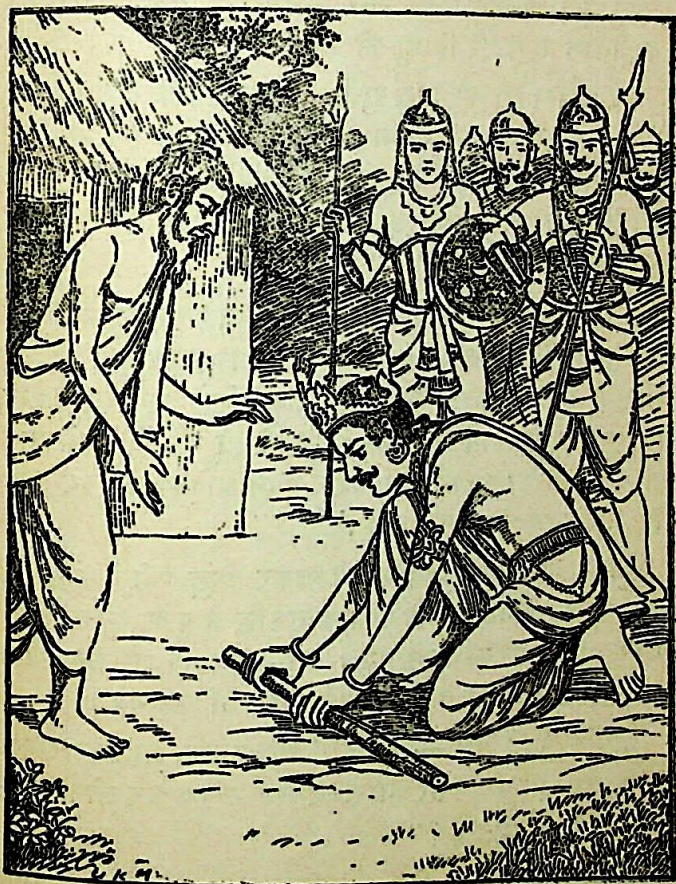
प्रह्लाद जी ने एक नौकर को आज्ञा दी, उससे नहीं उठी। दो-चार दस-बीस पूरी सेना को लगाया, किन्तु लकड़ी टस से

मस नहीं हुई। स्वयं प्रह्लाद जो ने भी पूरा बल लगाया, किन्तु लकड़ी अपनी जगह से तिल भर भी न हिली।"

वृद्ध कुछ अवहेलना के स्वर में बोला—"बस, महाराज! इतने ही बल के सहारे विष्णु को जीतने चले हैं?"

अब प्रह्लाद जी की आँखें खुलीं, वे भगवान् के पैरों पड़ कर क्षमा माँगन लगे। तब भगवान् ने अपने साक्षात् रूप से दर्शन देते हुए कहा—"राजन्! मेरे भक्त के हृदय में पहले तो अहंकार उठता ही नहीं। यदि कभो उत्पन्न भी हो जाता है, तो मैं उसका तुरन्त नाश कर देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी तरह नैमिषारण्य में हुआ। जब प्रह्लाद जी समस्त अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करने पर भी उन तपस्वियों को परास्त न कर सके, तब नृसिंह भगवान् ने उन्हें स्वयं दर्शन देकर कहा—"राजन्! ये मेरे ही रूप हैं, इनसे आप नहीं जीत सकते। इनकी पूजा करके अपने अविनय के लिये क्षमा माँग कर अपने घर चले जाइये।"

नृसिंह भगवान् के आदेश को पाकर प्रह्लादजी ने ऐसा ही किया, वे उन दोनों भाइयों की भगवत्बुद्धि से पूजा वन्दना करके अपनी राजधानो को चले गये। नर-नारायण भी उस स्थान को निरापद न समझ वहाँ से दुसरे स्थान को चले गये।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आपने कहा था। नारायण बड़े हैं, नर छोटे हैं, फिर नारायण-नर न कह कर लोग "नर-नारायण क्यों कहते हैं?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनिवर! कुछ काल इन दोनों ने अवन्तिका (उज्जैनो) नगरी में भी तपस्या की थी। नर की तपस्या से सन्तुष्ट होकर, नारायण ने उनसे वरदान माँगने को

कहा। जब बार-बार कहा तब उन्होंने कहा—"आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं यही मेरे लिये यथेष्ट वर है।"

तब भगवान् नारायण ने कहा—"हम प्रसन्न होकर यही वर देते हैं, कि आज से बड़े होने पर भी हमारा नाम पीछे लिया जायगा तुम्हारा पहिले। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें पुण्य न होगा। तभी से नारायण मे पहिले नर बोले जाते हैं।"

इस पर नर ने वरदान माँगा—"आप मेरे सारथी बनें।"

इस वरदान को पूर्ण करने के लिये दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप से धराधाम पर अवतीर्ण हुए और भगवान् ने महाभारत युद्ध में अपने पूर्व वरदान को सत्य करने के लिये पार्थ का सारथ्य कर्म किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पुनः प्रश्न किया—"सूतजी! स्वर्ग के राजा देवेन्द्र को किस कारण इनके ऊपर शंका हुई।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शंका का कारण होता है अविश्वास, अविश्वास संदेह से होता है। संदेह स्वार्थवश होता है, स्वार्थ असद्बुद्धि करने से होता है. असत् में सत् बुद्धि विषयों में आसक्ति होने के कारण होती है। अतः विषयी पुरुषों को साधु पुरुषों पर स्वाभाविक ही संदेह होता है। उनके मन में यह बात बैठनी ही नहीं, कि कोई स्वेच्छा से इन संसारी विषयों का त्याग कैसे कर सकता है।"

जब नर-नारायण निरन्तर निरालस्य होकर उग्र तप करने लगे, तब इन्द्र को संदेह हुआ कि ये तप द्वारा मेरा इन्द्रपद न छीन लें। सूखे हाड़ को लेकर भागने वाला कुत्ता सामने से इन्द्र को आते हुए देखकर इस भय से छिप जाता है कि कहीं यह मेरी इस अमूल्य निधि को बलपूर्वक मुझसे ले न लें। भला अमृत को पान करने वाले इन्द्र को मर्त्य-लोक की सूखी

हड्डी से—जो कुत्ते के मुख से उच्छिष्ट हो चुकी है—क्या प्रयोजन ? किन्तु कुत्ता तो उसी को सब कुछ समझता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व को रचने वाले नर-नारायण को इन्द्रपद की क्या अपेक्षा, किन्तु इन्द्र तो उसे ही सुख की पराकाष्ठा समझे बैठे हैं। तभी तो जिस ऋषि को भी वे तपस्या करते देखते हैं, उसी को देखकर उनके पेट में पानी हो जाता है, मुख म्लान हो जाता है, हृदय चिन्ताकुल हो जाता है और नाना प्रकार के उपायों द्वारा तप को नष्ट करने की अनेक चेष्टायें करते हैं। उनके इस कार्य में उनके सखा कामदेव उनकी सहायता करते हैं। काम अपनी कामनी, संगीत, वसंत, मादक मारुत आदि सेना के सहित उन पर चढ़ाई करते हैं। काम का पुत्र क्रोध उन पर प्रहार करके उनके तप को नष्ट कर देता है। लोभ उनके मन में आसक्ति पैदा करके विषयों के संग प्रेरणा करता है। तपस्वी विषयी बन जाते हैं। इन्द्र प्रसन्न हो जाते हैं, काम विजयी होकर लौट जाते हैं। तपस्वी कामिनियों के क्रीड़ामृग बन जाते हैं।

नर-नारायण को भी तपस्या से हटाने के लिये इन्द्र ने इन्हीं सब को भेजा। स्वर्ग की जितनी सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें थीं उन्हें लेकर काम, वसन्त, मारुत आदि के सहित मुनि के मनोहर आश्रम में पहुँचे। वसन्त ने अपनी छटा दिखाई। मारुत ने अपनी मादकता फैलाई। देवाङ्गनाओं ने अपने हाव-भाव कटाक्षों की चातुरी दर्शाई। संगीत ने अपनी आकर्षकता फैलाई। इन सब की सहायता से काम ने अपना कुसुमायुध उठाकर दोनों भाइयों को लक्ष्य करके कुसुम के बाण छोड़े। दोनों का ध्यान भंग हुआ। दोनों समझ गये यह सब इन्द्र की करतूत है।

कान में आकर क्रोध ने कहा—"आप मेरी सहायता स्वीकार

करें, तो तपःप्रभाव को लेकर मैं इन्हें अभी भस्म कर दूँ।" नारायण भगवान् ने क्रोध की बात सुनकर नर भगवान् की ओर देखा। तब नर बोले—"नहीं प्रभो! यह क्रोध बड़ा ठग है। हमारी समस्त तपस्या को यह ठग ले जायगा। नैमिषारण्य में हम इसके चक्कर में आ गये। आप इसको अपने समीप भी न बैठने दें, इसे भगा दें। यह काम का बेटा है।" भगवान् ने उससे कहा—"मैं आपकी सहायता नहीं चाहता। मेरी सहायता तो मेरी क्षमा माता करती है। वह इन सबको वश में कर लेगी। क्रोध यह सुनकर भाग गया। क्षमादेवी उन डरी हुई अप्सराओं के पास गईं। इससे उनका भय दूर हो गया। वे बड़े स्नेह से भगवान् को वन्दना करके उनके चारों ओर बैठ गईं। तब भगवान् ने कहा—"बोलो, मैं तुम्हारा क्या आतिथ्य करूँ?"

इस प्रकार भगवान् को प्रसन्न देखकर अप्सराओं ने कहा—"प्रभो! आप हम पर कृपा करें, हमें अभयदान दें, हमारी अशिष्टता को ओर ध्यान न दें।"

इस पर भगवान् हँसे और अपनी जंघा से उन्होंने असंख्यों एक से एक सुन्दर अनुपम सुन्दरी अप्सराओं को उत्पन्न किया। उन्हें देखकर अप्सरायें, काम, वसन्त, मारुत सबके सब परम लज्जित हुए। स्वर्गीय अप्सरायें तो भगवान् के भुवनमोहन रूप को देख कर मुग्ध हो गई थीं। उन्होंने भगवान् से रति सुख का वरादान माँगा। भगवान् तो वांछा कल्पतरु हैं, भक्तवत्सल हैं, हँस कर बोले—"देवियों! इस रूप से मैं तुम्हारी मनोकामना पूर्ण नहीं कर सकता। ऐसा करने से संसार का आदर्श नष्ट हो जायगा, धर्म की मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जायगी, अधर्म तथा पाखण्ड का प्राबल्य हो जायगा। मैं तुम्हारी इस इच्छा को श्री कृष्णावतार में पूर्ण करूँगा। कामदेव को बड़ा अभिमान है कि

मैंने त्रैलोक्य को अपने वश में कर लिया है। उस अवतार में मैं उसके अभिमान को प्रत्यक्ष चूर्ण करूँगा। मैं तुम पर अप्रसन्न नहीं
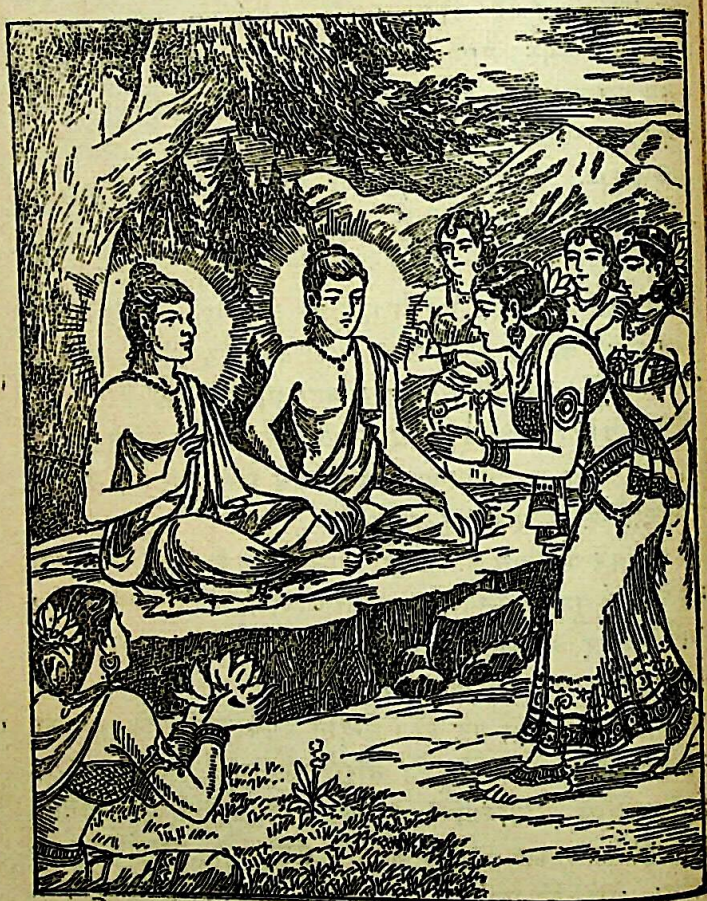
हूँ। तुम इनमें से एक अप्सरा को ले जाओ, हमारी ओर से देवराज को उपहार देना।"

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर कामदेव बड़े लज्जित हुए, वे अपनी समस्त सेना के आगे उस श्रेष्ठ अप्सरा को करके भगवान् की पूजा प्रदक्षिणा करके स्वर्ग की ओर चल दिये। वहाँ जाकर उसने इन्द्र से सभी वृत्तान्त कहा, यह सुनकर देवेन्द्र को बड़ी लज्जा आई। भगवान् की ऊरु से उत्पन्न होने के कारण उस अप्सरा का नाम उर्वशी हुआ, जो स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ, सुन्दरी देवाङ्गना समझी जाती है। इस प्रकार भगवान् ने काम को ही नहीं जीता अपितु क्रोध को भी अपने पास नहीं फटकने दिया।"

इन्हीं भगवान् ने नारदजी को तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया था। श्वेत द्वीप में भगवान् के जिस स्वरूप का दर्शन किया था उसमें उन्होंने नर-नारायण को भी देखा था, फिर इन्हें आकर बदरीवन में तपस्या करते पाया, तब उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"प्रभो! मैंने तो आप के दर्शन श्वेतद्वीप में भगवान् के श्रीविग्रह में किये थे। यह सुनकर नर-नारायण हँस पड़े और बोले—"नारद! हमने भी तुम्हें वहाँ देखा था। तुम भगवान् के भक्तों में अग्रगण्य हो; जो तुम्हें अविनाशी विश्वरूप भगवान् के दर्शन हुए। वे ऐसे प्रायः किसी को दर्शन नहीं देते। तुमने जिन सनातन भगवान् परमात्मा का श्वेत-द्वीप में दर्शन किया है, वे हम दोनों की परा प्रकृति है।"

इस प्रकार भगवान् नर-नारायण के उपदेश को सुनकर नारदजी वहीं विशालापुरी में रह कर तपस्या और भगवान् बदरीनाथ की आराधना करने लगे। विशालापुरी के बदरीनाथ के देवर्षि नारद प्रधान अर्चक हैं।

सूतजी कहते हैं, मुनियो! इन भगवान् ने मार्कंडेण्य मुनि के ऊपर भी कृपा की, जिसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। इस प्रकार ये सदा भक्तों पर कृपा करते रहते हैं।

महाभारत युद्ध में कृष्णार्जुन बन कर इन दोनों ने ही पृथ्वी के बढ़े हुए भार को कम किया था। दुष्ट राजाओं को मारकर उन्हें स्वर्ग पठाया था। ये अब तक भी विशालापुरी में पर्वत के शिखर पर निवास करते हैं और किसी भाग्यशाली को कभी-कभी प्रत्यक्ष दर्शन भी देते हैं। इनके अनन्त चरित्र हैं। यहाँ मैंने उनका केवल दिग्दर्शन मात्र ही करा दिया है।

छप्पय

नर-नारायण देव दया दीननि पै कीजै।
भवसागर भयहरन शरन चरननि की दीजै॥
लोक संग्रही बने करें तप बदरी बन महँ।
होहि विघ्न कल्याण यही सोचें नित मन महँ॥
तव चरननि तें विमुख नर, जाहिँ काल के गाल महँ।
भक्त तरें विनुभक्ति के, फँसे जीव जग जाल महँ॥

अग्नि के वंश का वर्णन

[१७८]

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥
तेभ्योऽग्नयः समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एकैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० ६०, ६१ श्लो०)

छप्पय

चौदहवीं जो दक्षसुता स्वाहा पितु प्यारी ।
अगिनदेव ने वरी कमलनयनी सुकुमारी ॥
पावक शुचि पवमान जने हवि भुक तीनिहु सुत ।
पौत्र पाँचचालीस अगिन सबई तेजो युत ॥
वेद विज्ञ जन यज्ञ महँ, आगनेय इष्टी करहिं ।
उनंचास सब मिलि भये, यज्ञ यागमहँ जो जरहिं ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! दक्ष पुत्री स्वाहा ने अग्नि के द्वारा अग्नि के अभिमानी, हवि का भोजन करने वाले पावक, पवमान और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न किए। इन तीनों के पैंतालीस पुत्र उत्पन्न हुए। एक अग्निदेव, तीन उनके पुत्र, पैंतालीस पौत्र, इस प्रकार तीनों मिलकर ये उनन्चास अग्नि के ही प्रकार हैं। पूरे परिवार को मिलाकर ये उनन्चास अग्नि कहाते हैं।"

अग्नि दो प्रकार की हैं परमाणु रूप से तो वे नित्य हैं और प्रकट में कार्य में आने वाली अनित्य हैं। नित्य अग्नि सर्वव्यापक है, उन्हीं से सृष्टि की उत्पत्ति है, अग्नि न हों, तो सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संहार के लिये भी अग्नि की ही आवश्यकता रहती है और जीवन धारण करने के लिये भी अग्नि अनिवार्य हैं।

अग्नि के अनेक प्रकार हैं, किन्तु उनके पाँच प्रधान भेद हैं। एक तो सर्वव्यापक अग्नि जो अणु-परमाणु में व्याप्त है, एक वड़वाग्नि जो समुद्र में रहकर समुद्र के जल को सोखती रहती है, उसे बढ़ने नहीं देती। दूसरी जठराग्नि है, जो सभी प्राणियों के शरीरों में रहकर खाये हुए पदार्थों को पचाती है, एक यज्ञीय अग्नि जिनसे अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञ याग होते हैं। एक सामान्य अग्नि जिनसे लोक में पाक आदि कर्म होते हैं। एक ही सर्वव्यापक अग्नि के ये प्रधान भेद हैं। वैसे तो अग्नि का वंश बहुत बड़ा है।

सूतजी से शौनकादि मुनियों ने पूछा—"सूतजी ! दक्ष प्रजापति की सोलह कन्याओं के वंश का वर्णन आप कर रहे थे जिनमें से धर्म की तेरह पत्नियों का वर्णन तो आपने किया अब चौदहवीं के वंश का वर्णन हमें और सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि प्रजापति दक्ष ने अपनी चौदहवीं कन्या स्वाहा का विवाह अग्निदेव के साथ किया, जिनके पावक, पवमान और शुचि ये हवि को खाने वाले परम तेजस्वी पुत्र हुए इन तीन के भी पैंतालीस प्रकार के अग्नि हुए। इस प्रकार पैंतालीस पौत्र, तीन पुत्र और एक अग्नि ये सब मिलकर उनञ्चास अग्नि संसार में प्रसिद्ध हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमने तो पुराणों में सुना है कि अंगिरा मुनि ही ने अग्नि का रूप रख लिया था। उनके ही वंश में विविध अग्नि हुए। उनसे बृहस्पित वंशीय और उक्थ वंशीय भिन्न-भिन्न अग्नियाँ हुई ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! बात यह है कि मैं इस समय पाद्म कल्प के स्वायंभुव मनवन्तर का वर्णन कर रहा हूँ। जिस कल्प में भगवान् की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई और उस कमल से ब्रह्माजी का जन्म हुआ। ब्रह्माजी के एक कल्प में चौदह मनवन्तर हो जाते हैं। प्रत्येक कल्प में कुछ न कुछ हेर-फेर हो जाता है। वैसे इन देवताओं के कार्य तो वे ही रहते हैं, किन्तु नाम में गोत्र में कुछ-कुछ अन्तर प्रत्येक कल्प में हो ही जाया करता है। एक कल्प में अग्नि का वंश अंगिरा मुनि से ही आरम्भ हुआ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"बात क्या हुई ? अग्निदेव ने अपना अग्नित्व अंगिरा मुनि को क्यों अर्पित कर दिया था ?"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! एक बार अंगिरा मुनि ने घोर तप किया। तपस्या से वे अग्नि से भी बढ़कर तेजस्वी हो गये। उनके तेज के सम्मुख अग्निदेव निस्तेज हो गये। उन्होंने सोचा—"अब मुझे कौन पूछेगा ! मैं तो अब तपस्या करूंगा। ब्रह्माजी से कहूँगा मुझे अब अवकाश दिया जाय। बहुत दिन मैंने अपना कार्य किया, अब मैं दुर्बल भी हो गया हूँ, कहीं एकान्त में रहकर विश्राम करूंगा। अग्निदेव यह सोच ही रहे थे कि उन्हें अंगिरा मुनि अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए सामने से आते हुए दिखाई दिये। अग्नि तो उनके तेज से हतप्रभ ही हो चुके थे, अतः वे कहीं लुक छिपने की बातें सोचने लगे।

इतने में ही अंगिरा मुनि ने आकर उन्हें प्रणाम किया। और कहा—"भगवन्! आप ऐसे अनमने से कैसे बने हैं?"

अग्निदेव ने कहा—"मुनिवर! अब मैं बुड्ढा हो चला हूँ, मेरा तेज भी कम हो गया है अतः अब अग्नि के सिंहासन को आप ग्रहण करें; मेरे कार्य का भार आप ही सम्हालें।"

अंगिरा मुनि ने कहा—"नहीं, महाराज! ब्रह्मदेव ने आपको ही प्रथमाग्नि बनाया है। आप ही तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं, मैं इतने उत्तरदायित्वपूर्ण पद को सम्हालने में सर्वथा असमर्थ हूँ।'

इस पर अग्नि बोले—"अजी, आप सर्वसमर्थ हैं। देखिये, आपके सामने मेरा तेज फीका पड़ गया। मेरी ख्याति भी नष्ट हो गई। आपके सम्मुख मुझे कौन जानेगा मानेगा। इसलिये मेरी इच्छा तो है, मैं अपने पद से सर्वथा त्यागपत्र दे दूँ। यदि आप नहीं मानते मुझे रखना ही चाहते हैं, तो प्रधान अग्नि के पद को आप ग्रहण करें। मुझे उपप्रधान बना कर रखें। मैं प्रजापत्य अग्नि के नाम से आपका सहकारी बनकर रहूँगा।"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"नहीं, बड़े तो बड़े ही हैं, बच्चे बच्चे ही हैं। हममें आपमें समझौता हो जाय। आप मुझे अपना पुत्र मान लें और मुझे अपने समान एक पुत्र दें। इससे आपका सम्मान भी बना रहेगा, और प्रथम पद पर भी आप प्रतिष्ठित रहे आवेंगे और मेरा वंश भी आँगिरश अग्नि के नाम से प्रसिद्ध होगा।"

अग्नि ने समझौते को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अंगिरा के सात पुत्र हुए, उनमें बृहस्पति अग्नि के अंश से हुए थे। उन बृहस्पति से ही विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। बृहस्पति के छः पुत्र हुए जो अग्निस्वरूप ही थे। प्रथम 'शंयु' अग्नि है जिसे हवन

में प्रथम आहुति दी जाती है। शंयु के भरद्वाज नामक अग्नि हुए; जिन्हें पहिले आज्य भाग दिया जाता है। इस प्रकार बृहस्पति के वंश में बहुत से अग्निसदृश पुत्र पौत्र हुए, जिनका यज्ञीय कर्मों में भिन्न-भिन्न कामों में प्रयोग किया जाता है, भिन्न-भिन्न अवसरों पर पूजे जाते हैं। बृहस्पति के दूसरे पुत्र जो निश्च्यवन नामक अग्नि हैं वे तेज स्वरूप हैं। मनुष्यों में जो तेज, यश, कान्ति, श्री दिखाई देती है यह इन्हीं का रूप है। तीसरे पुत्र का नाम 'विश्वजित्' है। सम्पूर्ण विश्व की बुद्धि को वश में करके जो अग्नि एक नियन्त्रण में रखती है, जिसके कारण अनेक-अनेक आविष्कार होते हैं, उस तेज का ही नाम विश्वजित् है। चौथे पुत्र का नाम विश्वभुक् है। विश्व में जितने प्राणी हैं, वे जो भी कुछ आहार करते हैं, उसे पचाने का काम इस अग्नि का है। इसे जठर में रहने के कारण जठराग्नि भी कहते हैं। पाँचवें पुत्र का नाम वाडवाग्नि है। जो समुद्र के जल में रहकर उसे पीते रहते हैं, छठें पुत्र का नाम स्त्रिष्टकृत है। जिनमें जल से शुद्ध करके जो हवि छोड़ी जाती है घृतादि हवनीय पदार्थ भली प्रकार छोड़े जाने से भी इन्हें स्विश्टकृत कहते हैं। इस प्रकार ये छः अग्नि तो बृहस्पति, अत्रि, अग्नि ने अपनी चान्द्रमसी पत्नी से पैदा किये।

बृहस्पति की क्रोधाग्नि से एक लड़की हुई, जो मन्यन्ती कहलाई। उसके एक लड़का हुआ, जो सभी स्त्री पुरुषों के विशेषकर युवक और युवतियों के हृदयों में निवास करता है। उसका नाम कामाग्नि है। इसके तेज से तपे प्राणी, लज्जा, संकोच धैर्य, विनय, धर्म, सत्य सभी को खो देते हैं। इनका ही दूसरा भाई अमोघ है, जो क्रोधाग्नि की तरह सबको मारता है। तीसरा भाई उक्थाग्नि है, जो धर्म-कर्म और मोक्ष मार्ग में सहायक होता है। इस उक्थ अग्नि के बहुत भेद हैं। कश्यप, वशिष्ठ, प्राणक,

आङ्गिरस और त्रिवर्चा-इन नामों की एक पांचजन्य अग्नि है। ये अपनी सन्तानों सहित पच्चीस प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त शंयु भरत, शिव, उष्मा, आवसथ्य, ऊर्जस्कर, प्रशान्त, बृहद् भानु, बलद, मन्युमान, घृतिमान, आग्रायण, अग्रह, अग्निषोम, वैश्वानर, विश्वपति, सन्निहित, कपिल अग्रणी, वसुमान, सुरमति, उत्तर, पथिकृत्, अग्नितम, सह, अद्भुत, गृहपति, भरत, ऋतु, नियम आदि अग्नि के और भी अनेक भेद हैं। ये हब अग्नि भिन्न-भिन्न होने पर भी दीखने में एक ही दिखाई देते हैं। वेदज्ञ ऋषि ही इनके भेदों को जानते और समझते हैं। आदि अग्नि ने अंगिरा को ही अपना सम्पूर्ण उत्तराधिकार दे दिया था, उन्हीं से ये सब अग्नि उत्पन्न हुए। भिन्न-भिन्न मंत्रों से वेदज्ञ ऋषि भिन्न-भिन्न अग्नियों का आवाहन करके भिन्न-भिन्न देवताओं को हवि पहुँचाते है। पहिले अग्निदेव सर्व भक्षी नहीं थे, वे देवताओं को हविर्भाग ही पहुँचाया करते थे, किन्तु भृगु महर्षि ने अग्नि को शाप देकर सर्वभक्षी बना दिया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमारे पूर्वज भगवान् भृगु ने अग्नि को सर्व-भक्षी होने का शाप क्यों दे दिया ? अग्निदेव ने ऐसा क्या अपराध किया ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! क्या बताऊं। मुझे डर लगता है, आप अप्रसन्न न हो जायँ। इन ऋषियों की बात समझ में नहीं आती। न जाने किस समय कैसी धुनि इन्हें समा जाती है। आप भी भृगु वंश के हैं, बात यह थी कि भगवान् भृगु की एक पुलोमा नामक स्त्री थी प्रतीत होता है, उसके मातृ कुल का सम्बन्ध असुर कुल से था। पहिले उसके विवाह की बात पुलोमा नामक दानव से हुई थी। पीछे उसके पिता ने भृगु जी के साथ उसका विवाह कर दिया।"

पुलोमा तो दानव ही ठहरा। वह अब इस ताड़ में रहने लगा कि किसी तरह भृगु पत्नी पुलोमा को हर लू। किन्तु वह भृगु मुनि के तेज तप से डरता था। एक दिन मुनि स्नान आदि के लिये आश्रम से बाहर गये। अच्छा अवसर पाकर पुलोमा वहाँ आया। आश्रम में और कोई नहीं था। भृगु-पत्नी पुलोमा वहाँ ओट में अकेली खड़ी थी। अग्निहोत्र की अग्नि कुण्ड में दीप्त हो रही थी। उस दानव ने और किसी को न देखकर अग्नि से ही पूछा—"अग्नि देव ! देखो, तुम देवताओं के मुख हो। झूठ मत बोलना, सत्य सत्य कहना। यह वही पुलोमा है न; जिसके विवाह की बातचीत मेरे साथ हुई थी, फिर इसके पिता ने अच्छे वर के लोभ से इसका विवाह भृगु के साथ कर दिया। तुम सभी प्राणियों के धर्म के साक्षी हो, मिथ्या भाषण मत करना।"

अग्नि देव तो घबड़ा गये, वे धर्म संकट में पड़ गये। सत्य कहते हैं, तो मुनि कोप करेंगे, झूठ कहते हैं तो धर्म-च्युत होते हैं। जानकर भी उत्तर नहीं देते हैं तो अनृत के समान पाप लगता है, अतः बोले—"दानव ! कुछ बात तो तुम्हारे साथ इसके विवाह की हुई थी। किन्तु क्वारो कन्या के विवाह की बातें सैकड़ों के साथ होती है। पति तो वही होता है, जो मुझे साक्षी करके कन्या का पाणिग्रहण करता है। भृगु मुनि ने मेरे सामने मुझे साक्षी करके इसका पाणिग्रहण किया है, अतः वे ही इसके धर्मपूर्वक पति हैं और यह सती उन्हीं की धर्मपत्नी है।"

दानव को धर्म थोड़े ही सीखना था, उसे तो पुलोमा का परिचय पाना था। अतः वह परिचय पाकर शूकर का रूप रख कर पुलोमा को लेकर भाग निकला। अग्निदेव का मुख फक्क पड़ गया। पुलोमा के गर्भ में भृगु मुनि का परम तेजस्वी अमोघवीर्य था। वह गर्भिणी थी, प्रसव-काल सन्निकट ही था, दानव के

भय से भयभीत हुई पुलोमा कुररी पक्षी की भाँति चिल्लाती और केला के पत्ते की भाँति काँपती जाती थी। अत्यन्त भय के कारण उसका गर्भ-च्युत हो गया। अमोघवीर्य ऋषि के तेजस्वी पुत्र ने पैदा होकर ज्योंही उस दानव को देखा, त्यों ही वह भस्म होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

अपने तेजस्वी पुत्र को गोद में लेकर भृगु-पत्नी रोती हुई आश्रम में आई। मुनि स्नानादि से निवृत्त होकर आ गये। अपनी पत्नी से सब वृत्तान्त सुनकर मुनि के नेत्र क्रोध से लाल-लाल हो गये। वे बोले—"तुम्हारा परिचय दानव को किसने दिया ?"

भृगु-पत्नी ने कहा—"भगवन् ! अग्निदेव ने उसे बता दिया था।"

इतना सुनते ही मुनि ने अग्नि को शाप दिया—"जाओ तुम आज से सर्व-भक्षी हो जाओ।"

अग्निदेव ने कहा—"मुनिवर ! आप कैसी विचित्र बातें कर रहे हैं। मैं न बताता तो भी आप अप्रसन्न होते, झूठ बोलता तो भी मेरा देवत्व नष्ट होता। सत्य कहने पर आपने शाप दे दिया। अच्छी बात है, सर्वभक्षी होने पर मैं फिर आपके पूजा योग्य कैसे रहूँगा। लीजिये, मैं सत्याग्रह किये देता हूँ।" यह कह कर अग्नि, अग्नि-कुण्डों से अन्तर्धान हो गये।

अग्नि के अन्तर्धान होते ही तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। यज्ञ, अग्निहोत्र सब बन्द हो गये। देवताओं के भाग नहीं पहुँचने लगे। देवता भूखों मरने लगे। सब दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये, ब्रह्माजी ने अग्नि को बुलाया, सब बातें पूछीं। अग्निदेव ने अपने को निर्दोष बताया। ब्रह्माजी को तो समझौता कराना था। जो हो गया सो हो गया, ऋषियों का वाक्य झूठा तो हो नहीं सकता।

ब्रह्माजी ने कहा—"अग्निदेव ! कोई चिन्ता की बात नहीं। आप तो सबको पवित्र करने वाले हैं। आपको स्पर्श करके सब पवित्र होते हैं। तुम पूरे सर्वभक्षी न होगे, तुम्हारी अपान देश की ज्वालायें तथा मांस भक्षण करने वाला अंश ही सर्वभक्षी होगा। सर्वभक्षी होने पर भी आप देवताओं को पूर्ववत् हवि पहुँचाते रहेंगे। आपकी पवित्रता में अणुमात्र भी अन्तर न पड़ेगा। तुम तो देवताओं के मुख हो। सदा पवित्र हो,-इस हठ को छोड़ दो।

ब्रह्माजी के ऐसा कहने पर अग्निदेव ने अपना हठ छोड़ दिया। उनकी पवित्रता में क्या अन्तर होना था। सूर्य की किरणें सभी स्थानों पर पड़ने पर भी पवित्र ही बनी रहती हैं।

इस प्रकार अग्निदेव ने स्वधा के साथ विवाह करके बहुत से पुत्र पौत्रों को उत्पन्न किया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यह मैंने आप से संक्षेप में अग्नि के वंश का वर्णन किया। अब आगे दक्ष प्रजापति की पंद्रहवीं और सोलहवीं स्वधा तथा सती के सम्बन्ध की भी कथाओं को कहूँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

एक अग्नि सर्वत्र रहें व्यापक सब थल महँ।
एक करहिँ पयपान रहें नित सागर जल महँ॥
जठर माँहि जो रहें पचावें अन्न पान कूँ।
एक भाग यज्ञीय पठावें उभय यान कूँ॥
एक असंस्कृत घरेलू, अग्नि पाक जिहितें करहिँ।
आदि अग्नि तो एकई, रूप विविध तेई धरहिँ॥

पितरों के वंश का वर्णन

[१७६]

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयन्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥ॐ

(श्री भा० ४ स्क० १ अ०, ६३, ६४ श्लोक)

छप्पय

नित्य पितरगण षष्ठ वर्हिषद सोमप साग्निक ।
अग्निष्वात्ता और आज्यपा कहें निरग्निक ॥
इन सबने मिलि स्वधा विवाहीं दक्ष कुमारी ।
इनतैं तनया उभय भईं जो प्रभु की प्यारी ॥
कन्या वयुना धारिनी, स्वधा जनीं जगतें विरत ।
पारंगत परमार्थ महँ ब्रह्मवादिनी तप निरत ॥

ॐ मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पितरों के अग्निष्वात्त, वर्हिषद, सोमप, आज्यप, साग्निक और निरग्निक ये छः गण हैं। इन सबकी पत्नी दक्षकन्या स्वधा हुईं। इन पितरों से स्वधा के धारिणी और वयुना नाम की दो कन्यायें हुईं। वे दोनों ब्रह्मवादिनी थीं और ज्ञान-विज्ञान में पारगता थीं।"

सृष्टि का विषय बड़ा गहन है। यदि हम प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानें, तो हमारे पिता के पिता थे, इसमें कोई प्रमाण नहीं; ये ही हमारे माता-पिता हैं इसमें क्या प्रमाण? हमारी आँखें हैं या पीठ है इसमें भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। अनुमान से ही सिद्ध होता है कि सब लोगों के पीठ है तो हमारे भी होगी। सबके आँखें हैं तो हमारे भी होंगी। अनुमान भी सदा सत्य नहीं होता। उसमें भी कभी-कभी बड़ी गड़बड़ हो जाती है, इसलिये आस्तिक-शास्त्रों ने 'शब्द' या शास्त्र प्रमाण को ही मुख्य माना है जिसे आप्तवाक्य या आर्षवाक्य भी कहते हैं। त्रिकालज्ञ मुनियों ने जो अपने अनुभव से कहा है वही सत्य है।

सृष्टि की सब योनियों को मिलाकर चौरासी लाख योनि मानी हैं। उन चौरासी लाख योनियों का दस प्रकार की सृष्टि में समावेश हो जाता है। संसार के समस्त प्राणी दशधा सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। इन दश में छः प्राकृत सृष्टि हैं तीन वैकृत और एक प्राकृत वैकृत में मिली हुई। वे दस प्रकार ये हैं—(१) महत्तत्व की सृष्टि, (२) अहंकार की, (३) पञ्चतन्मात्राओं की, (४) इन्द्रियों की, (५) इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की, (६) पंच पर्वा अविद्या की, ये छः तो प्राकृत सृष्टि कही जाती हैं। तीन वैकृत ये हैं (७) स्थावरों वृक्ष आदि की सृष्टि, (८) तिर्यक् पशु पक्षी आदि की। (९) मनुष्यों की इनके अतिरिक्त एक देव सर्ग है। देवताओं की गणना पहिले प्राकृत सर्ग में कर ही चुके हैं, उन प्राकृत देवताओं के अतिरिक्त वैकृत देव भी होते हैं, जो स्थूल सृष्टि के अनन्तर ऋषियों से उत्पन्न होते हैं। उनके आठ भेद हैं—(१) स्वर्गस्थ देव गण, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व अप्सरा, (५) यक्ष राक्षस, (६) सिद्ध, चारण, विद्याधर, (७) भूत, प्रेत, पिशाच, (८) किन्नरादि ये सभी सूक्ष्म शरीर वाले होने से

देव कहे गये हैं। इनमें से जो पितर हैं, वे दो प्रकार के होते हैं। एक तो नित्य पितर दूसरे ये साधारण। साधारण पितर वे कहलाते हैं जो यहाँ से मर कर पितर लोक में जाते हैं। जैसे एक तो स्वर्ग में रहने वाले नित्य देवता होते हैं, जो देवयोनि में उत्पन्न होकर ही दिव्य सुखों का स्वर्गादि लोकों में उपभोग करते हैं। दूसरे पुण्योपार्जित देवता होते हैं। इस लोक में इष्टापूर्ति कर्म करने से पुण्य के प्रभाव से देवता बन कर स्वर्ग में जाते हैं। इन सभी देवताओं के सभी के स्वामी इन्द्र होते हैं; इसीलिये वे 'देवराज' कहलाते हैं इसी तरह नित्य पितर तो सदा ही पितृ-लोक में निवास करके सभी प्राणियों की वंशवृद्धि की इच्छा से वे महा-समाधि में स्थित रहते हैं। दूसरे जो गृहस्थी मरकर पितर लोक में जाते हैं, जिनके वंश के लोग उनके मरने पर उनके लिये जो श्राद्ध तर्पण करते हैं, वह कव्य बनकर उन्हें सूक्ष्म रूप से मिलता से। इन सब पितरों के स्वामी यम हैं, इसीलिये सूर्यपुत्र भगवान् यम पितृ-राज कहलाते हैं।

नित्य पितरों के मुख्यतया छः गण हैं। अग्निवात्त, बर्हिषद, सोमप, आज्यप, साग्निक और निरग्निक। जिन्होंने स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा पितृ-लोक प्राप्त किया है वे नित्य पितर-अग्निष्वात्त कहलाते हैं। जिन्होंने वैदिक विधि से अग्निहोत्र यज्ञ यागादि करके पितृ-लोक प्राप्त किया है वे नित्यपितर-बर्हिषद कहलाते हैं। यज्ञ में जिन्हें 'सोम' का भाग मिलता है, वे पितर सोमप कहलाते हैं। यज्ञ में जो घृत का ही पान करते हैं उन नित्य पितरों की 'आज्यप' संज्ञा है। श्राद्ध दो प्रकार का होता है, एक साग्निक श्राद्ध, एक अग्नि-रहित केवल पिण्डों का ही श्राद्ध। जो अग्नि-द्वारा आहुतियों के भागों का भक्षण करते हैं, वे साग्निक-पितर होते हैं और जो बिना अग्नि के ही अपने

भाग को ग्रहण कर लेते हैं वे निरग्निक-पितर कहलाते हैं। इन सब पितरों को धर्म के जानने वाले गृहस्थ नित्य प्रति तिल-तर्पण के द्वारा तृप्त करते हैं। समय-समय पर श्राद्ध करके इनके निमित्त भाग देते हैं। इन सब पितरों के साथ दक्षकुमारी स्वधा का विवाह हुआ है। जैसे अग्निहोत्र में अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' का नाम लेकर आहुति देते हैं, तो वे उसे ग्रहण करके यथास्थान पहुँचा देते हैं। उसी प्रकार पितरों के सब कार्यों में 'स्वधा' का उच्चारण करके जल आदि दिया जाता है। पितरों की तृप्ति श्राद्ध और तर्पण से होती है। पहिले पितरों के साथ अग्नि भाग नहीं लेते थे, जब पितरों को खाते-खाते अजीर्ण हो गया, तब उन्होंने अग्निदेव की सहायता ली, क्योंकि अग्नि दीप्त हो जाने पर अजीर्ण आदि सब रोग शान्त हो जाते हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजो ! जैसे त्रेयीअग्नि का आरम्भ महाराज पुरूरवा से हुआ इसी प्रकार पहिले पहल श्राद्ध की प्रथा किस ऋषि ने प्रचलित की ? पितरों को अजीर्ण क्यों हो गया। अग्नि पितरों के साथ भाग क्यों लेने लगे। यदि आप उचित समझें, तो इन बातों को भी संक्षेप से हमें सुना दीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनिवर ! सृष्टि के आदि में देवता, पितर, ऋषि आदि सब उत्पन्न हुए। फिर अग्निहोत्र आदि कर्मों का प्रचार हुआ। देवता, पितरों को यज्ञ में भाग मिलता था, देवता पितर तो अमर ही थे। पृथ्वी लोक में तब तक कोई मरता नहीं था। ऋषि मुनि राजा जब तक चाहते जीते थे जब इच्छा होती तब सशरीर स्वर्ग चले जाते। मरने का प्रश्न ही नहीं था। जब कोई मरता ही नहीं, तो श्राद्ध-तर्पण किसके निमित्त किया जाय ? किन्तु इस सृष्टि में तो सदा

परिवर्तन होता ही रहता है। आवश्यकता ही अविष्कारों की जननी है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो पहले ही बता चुका हूँ, कि भगवान् ब्रह्मा से सृष्टि के आदि में मरीचि अत्रि आदि दश मानस पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें भगवान् अत्रि के दत्त, दुर्वासा और चन्द्रमा ये तीन पुत्र तीनों देवों के अंश से जन्मे। भगवान् दत्तात्रेय के एक निमि नामक पुत्र हुआ। वह बड़ा तेजस्वी ज्ञानवान् और विचारशील था। उन्हीं निमि के 'श्रीमान्' नामक एक परम सुंदर पुत्र उत्पन्न हुआ। वह इतना रूपवान् था, कि पिता उसके सौंदर्य को देखते-देखते अघाते ही नहीं थे। वह एक हजार वर्ष तक तपस्या करता रहा। दैवयोग से वह मर गया। निमि मुनि को उसकी मृत्यु पर बड़ा क्लेश हुआ। दुःख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल सी हो गईं। वे बार-बार सोचने लगे—"मैं अब अपने इस पुत्र के निमित्त क्या करूँ।" भगवान् की प्रेरणा से उनके अन्तःकरण में एक संकल्प उठा—"मरकर यह जिस लोक में भी गया हो, क्यों न मैं इसके निमित्त कुछ श्रद्धा से कार्य करूँ।" इस संकल्प के उठते ही उन्होंने श्राद्ध करने का निश्चय किया। उन्होंने सोचा—"मेरे मृत पुत्र को कौन-कौन सा अन्न अत्यन्त प्रिय था।" इस बात को सोचकर उसे जो भी अन्न प्रिय थे, सब एकत्रित किये। फिर अमावस्या के एक दिन पूर्व सदाचारी वैदिक ब्राह्मणों को उन्होंने निमन्त्रित किया। अमावस्या के दिन सबको श्रद्धा से बुलाया। दक्षिणाभिमुख करके दर्भ बिछाकर ब्राह्मणों को बिठाया, बिना नमक का ऋषि अन्न उनके सामने परोसा। श्रीमान् का नाम गोत्र उच्चारण करके उसे पिंड दिये। यह सब करने के अनन्तर उनके मन में संदेह हुआ, कि यह तो मैंने नये ही धर्म का निर्माण सा कर डाला। मेरे पूर्ववर्ती ऋषि-मुनियों ने

तो ऐसा किया नहीं। मुझसे यह धर्म सांकर्य्य तो नहीं हो गया। मैंने किसी नूतन धर्म की पद्धति तो नहीं चला दी। इस विचार के आते ही उन्होंने अपने वंश के पूर्वज भगवान् अत्रि का स्मरण किया।"

उनके स्मरण करते हीं उसी क्षण भगवान् अत्रि उनके सम्मुख प्रकट होकर कहने लगे—"वत्स! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है? तुम इतने चिन्तातुर क्यों हो रहे हो? अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ। मैं उसके निवारण का यथाशक्ति प्रयत्न करूंगा।"

यह सुनकर निमि मुनि बोले—"प्रभो! मैंने इस प्रकार बिना सोचे समझे अन्तःकरण की प्रेरणा से देवयज्ञ से पृथक् एक पितृ-यज्ञ किया है। मेरे मन में करने के अनन्तर यह शंका हो गई, कि यह कर्म कहीं अशास्त्रीय तो नहीं है।"

यह सुनकर भगवान् अत्रि बोले—"वत्स! तुम चिन्ता मत करो। तुम परम तपस्वी हो, तुमसे भूल में भी धर्म विरुद्ध आच-रण नहीं हो सकता। तुमने जो यह पितृयज्ञ किया है, यह शास्त्रीय है, इसकी सर्व प्रथम विधि भगवान् ब्रह्माजी ने ही प्रचलित की थी, वही शुद्ध अन्तःकरण होने से तुम्हारे हृदय में प्रकट हो गई। आज से सभी लोग इसी पितृयज्ञ के द्वारा अपने समस्त पितरों को तृप्त किया करेंगे। तपोधन! तुमने यह अत्युत्तम विधि प्रच-लित कीं।" इतना कहकर भगवान् अत्रि ने उन्हें श्राद्ध की साङ्गोपांग विधि बताई। उसी विधि से सभी लोग पितरों का श्राद्ध तर्पण करने लगे।"

देवता पितरों को बड़ा आनन्द हुआ। सभी धर्मात्मा ऋषि मुनि श्राद्ध में पितरों के निमित्त अन्न जल देते। चारों वर्ण के लोग भी तर्पण करने लगे। पितर भी मनमाना भोजन करने

लगे। आवश्यकता से अधिक भोजन करने से पितरों के पेट फूलने लगे, उन्हें अजीर्ण और अपच होने लगी। बिना संयम सर्वदा खाते रहने से ऐसा होना अवश्यम्भावी था, सब पितर मिलकर लोक पितामह स्वयंभू भगवान् ब्रह्मा के पास गये और दन्डवत् प्रणाम करके बोले—"प्रभो! आप हमारी रक्षा करें, हमें भारी संकट से छुड़ावें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, बात बताओ! तुम लोग क्यों दुखी हो किसने तुम्हें कष्ट दिया? क्या कष्ट है तुम्हें? कष्ट का कारण समझ कर उसके निवारण का उपाय बताऊँगा।"

पितरों ने कहा—प्रभो! सभी लोग पितृयज्ञ, श्राद्ध करने लगे हैं। श्राद्धान्न खाते-खाते हमें अजीर्ण हो गया है?" मन्दाग्नि हो गई है?"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"देखो, जैसे तैसे तो मैंने तुम्हारे आहार का प्रबन्ध किया है। अब तुम कहते हो, हम पचा नहीं सकते। अच्छा, एक काम करो। ये अग्निदेव जो मेरे समीप बैठे हैं, तुम लोगों के साढ़ू हैं। तुम्हारी पत्नी स्वधा और इनकी पत्नी स्वाहा दोनों सगी बहिनें हैं, इसलिये आज से अग्नि भी तुम्हारे साथ भोजन किया करेंगे।"

यह सुनकर अग्नि भी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है, आज से यही बात पक्की रही। मैं भी तुम्हारी पंक्ति में बैठ जाया करूँगा। मेरे साथ बैठकर खाने से तुम्हें कभी अजीर्ण न होगा। अग्नि मन्द होने से ही तो अजीर्ण होता है। मैं सबको भस्म कर दिया करूंगा।"

यह सुनकर पितरों को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वे निश्चिन्त हो गये। उसी दिन से श्राद्ध में प्रथम पिण्ड अग्नि को दिया जाता है। पहिले यह भी डर रहता था, कि ब्रह्मराक्षस आकर पितरों

के हाथ से उनका आहार छीनकर कहीं भाग न जायँ। अग्नि के समीप रहने से राक्षस दूर ही रहते हैं। इस प्रकार पितरों का श्राद्ध आरम्भ हुआ।

गृहस्थियों को पितरों का पूजन अवश्य करना चाहिये। प्रसन्न हुए पितर वंश की वृद्धि करते हैं। प्रत्येक गृहस्थी से पितर यही आशा रखते हैं, कि वह उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण करें।

सभी पितरों ने स्वधा के साथ विवाह किया, किन्तु उनका वंश आगे चला नहीं। उनके दो पुत्रियाँ हुईं, जिनके नाम धारिणी और वयुना थे। ये दोनों ही ज्ञान विज्ञान में पारंगत तथा ब्रह्मवादिनी थीं। उन्होंने विवाह ही नहीं किया। अतः आगे इनका वंश नहीं चला।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार मैंने प्रजापति दक्ष की पन्द्रह कन्याओं के वंशों का वर्णन किया। अब सबसे छोटी जो सतीजी हैं, उनकी कथा आपसे कहूँगा। उसे आप अत्यन्त मनोयोग के साथ श्रवण करें, यह कथा बड़ी ही विचित्र है।"

छप्पय

जे श्रद्धातैं करें श्राद्ध विधिवत तिल तर्पन।
तिनपै किरपा करें प्रजाहित निरत पितर गन॥
अन्न श्राद्ध शुचि खायँ विप्र मुख तैं स्वीकारें।
प्रजा वृद्धि बहु होय यही मन सदा विचारें॥
पितर स्वधा उच्चारते, सुर स्वाहा तैं लेत हैं।
दाता श्रद्धा निरखिकें, मन वांछित फल देत हैं॥

—:०:—

दक्ष कुमारी सती का शिवजी से विवाह

[१८०]

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥
पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानगसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥*

(श्री भाग० ४ स्क० १ अ०, ६५ ६६ श्लो०)

छप्पय

दक्षकुमरि लघु सती रूप गुण की जो खानी।
व्याही शिव के संग भक्तितैं भई भवानी॥
अर्घ अंग दे भये अर्धनारीनट ईश्वर।
सती सरिस को सतीं तज्यो तनु ततछिन नश्वर॥
हठ अघ को शोधन कर्यो, जग कीरति अक्षय करी।
पति निन्दा रूपी अनल, लगी देह छिन महँ जरी।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! शंकरजी की पत्नी दक्ष-कुमारी सती भगवान् शंकरजी की सर्वथा अनुगामिनी थीं। फिर भी गुण और शील में उनके ही सदृश उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उन्होंने युवावस्था प्राप्त होने से पहिले ही अपने पिता के कारण क्रोधवश योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया, क्योंकि उनका पिता बिना अपराध के ही शंकरजी से द्वेष करता था।"

सर्व व्यापक अग्नि जो सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति, और संहार में प्रधान कारण हैं, उसमें से ज्वाला भी निकलती हैं और धूँआ भी निकलता हैं। प्राणियों के जीवनजल में शीतलता और मधुरता भी है, उसी से फेन भी निकलता है। भगवान् से ही धर्म की उत्पत्ति है और अधर्म की भी। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, जीवन-मरण सभी की सृष्टि श्रीहरि से ही है। सृष्टि त्रिगुणात्मक है। शास्त्र इसी का विवेचन करते हैं, कि इस गुण दोषमय जगत् में यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है। ईश्वरों के चरित्र में भी कभी-कभी विपरीतता दिखाई देती है। वह विपरीतता हमारी मानवदृष्टि से दीखती है। वास्तव में तो ईश्वर में विपरीतता है ही नहीं। शिव के सभी कार्य मंगलप्रद और शुभ ही होते हैं, उनमें अमंगल और अशुभ की संभावना नहीं। जो ईश्वरों के कार्यों की आलोचना करते हैं, उन्हें मानवीय तराजू पर तोलते हैं वे पीछे पछताते हैं। हाथ मलते हुए रह जाते हैं।"

प्रजापति दक्ष प्रजावृद्धि में बड़े कुशल थे। ब्रह्माजी के प्रिय पुत्र थे। अपनी पन्द्रह पुत्रियों का विवाह करने के अनन्तर उन्हें सबसे छोटी सती के विवाह की चिन्ता हुई। सती बड़ी ही सुंदरी सुशीला और साध्वी थीं। दक्ष चाहते थे, मेरी इस पुत्री को सर्व गुण सम्पन्न पति मिले। सती विवाह योग्य हो गई थीं। ऋषि-मुनियों में इतना तेजस्वी, तपस्वी उन्हें कोई दिखाई न दिया। तब वे लोकपितामह ब्रह्माजी के समीप गये। ब्रह्मलोक में पहुँचकर उन्होंने अनेक देवता, सिद्ध, ऋषि-मुनियों से वंदित भगवान् स्वायंभू चतुरानन के दर्शन किये। उनके चरणों में श्रद्धा से प्रणाम करके उनकी आज्ञा से वे समीप के ही एक सुन्दर आसन पर बैठ गये। अपने प्रिय पुत्र दक्ष को देखकर देवाधिदेव भगवान् कमलासन अत्यन्त प्रसन्न हुए। कुशल प्रश्न के अनन्तर ब्रह्माजी ने

कहा—"दक्ष ! तुम तो बहुत दिनों में आये ? कहो संसार में सर्वत्र शान्ति तो है ? प्रजा की वृद्धि तो हो रही है ? तुम कुछ चिन्तित से दिखाई देते हो ?"

प्रजापति दक्ष बोले—"विभो ! सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, प्रजा की वृद्धि भी पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक हो रही है। आपकी सोलह बच्चियाँ थीं, उनमें से तेरह का विवाह तो मैंने धर्म के साथ कर दिया। एक का अग्निदेव के साथ और एक का पितरों के साथ। अब एक सबसे छोटी रह गई है। प्रभो ! वह अत्यन्त ही सुकुमारी सुशीला और सर्वगुणसम्पन्ना है। मैं चाहता हूँ; संसार में उसके लिये कोई सर्वश्रेष्ठ वर मिले। मेरी दृष्टि में ऐसा कोई आता नहीं। आप जिसके लिये आज्ञा कर दें, उसी के साथ मैं उसका विवाह कर दूँ।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"देखो, भैया ! संसार में हम तीन ही देव सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें भी शिवजी सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे देवाधिदेव महादेव हैं। हम सब उनकी चरणवन्दना करते हैं। हमारी तो इच्छा है, सती का विवाह तुम उन्हीं के साथ कर दो।"

इस पर दक्षजी कुछ अन्यमनस्क भाव से बोले—"हाँ, महाराज ! यह तो सत्य ही है, वे श्रेष्ठ देव हैं, किन्तु उनकी चर्या मुझे प्रिय नहीं। देखिये, वे नंग घड़ंगे रहते हैं, उनके संगी साथी प्रेत, पिशाच हैं। उन्हें साथ लेकर स्मशान में नाचते हैं। नर-मुंडों की माला पहिनते हैं, सम्पूर्ण शरीर में चिता की भस्म लगाते हैं। सब अंगों में भूषण के स्थान में विषधर सर्प लपेटे रहते हैं। किसी साँप ने फुफकार मार दी, तो मेरी भोली-भाली सुकुमारी बच्ची डर जायगी। बैल पर वे चढ़ते हैं, बैल ने सींग ही मार दिया, तो बिचारी दुखी हो जायगी जटाओं में गंगाजी बहती हैं।

कभी बाढ़ ही आ गई तो, वह छोटी सी बच्ची बह जायगी। उनके न घर न द्वार, खप्पर में भीख माँगते हैं। ऐसा बताइये जिसके घरबार भी हो, बर भी अच्छा हो। महाराज, आप बुरा मानें चाहें भला, ये नंग-धड़ंगे भभूतिया बाबा तो मुझे अच्छे लगते नहीं। मेरी बच्ची इनके साथ में रहकर क्या सुख पावेगी ?"

यह सुनकर ब्रह्माजी अपनी दाढ़ी हिलाते हुए चारों मुखों से बड़े जोरों से हँस पड़े और हँसते-हंसते बोले—"अरे दक्ष ! तुम अभी तक बाहरी दृष्टि वाले ही बने रहे। अरे, भैया ! शिवजी तो साक्षात् ईश्वर हैं। उनके सभी कार्य अलौकिक हैं, वे तीनों लोकों के वन्दनीय हैं। उनके प्रति तुम्हें ऐसे भाव नहीं रखने चाहिये। विष्णु भगवान् भी उनका पूजन वन्दन करते हैं, मैं भी उनकी चरणधूलि को अपने सिर पर श्रद्धा सहित धारण करता हूं। यदि वे तुम्हारी पुत्री को स्वीकार कर लेंगे, तो सती के भाग्य खुल जायँगे। वह हम लोगों की भी पूजनीया जगन्माता बन जायगी। इस विषय में विचार और विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं।"

ब्रह्माजी तो पिता ही ठहरे, उनकी आज्ञा भला दक्ष प्रजापति कैसे टाल सकते थे। सप्तर्षियों के द्वारा सन्देश भेजा। ब्रह्माजी की आज्ञा भी कही। शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे, उन्होंने कह दिया—"हमें विवाह आदि की आवश्यकता तो है नहीं। अपने ध्यान में मग्न रहते हैं, किन्तु जब आप सबका आग्रह है, लोक पितामह ब्रह्मदेव की आज्ञा है, तो उसे टाल भी नहीं सकते, अच्छी बात है।"

शिवजी के स्वीकार करने पर सती देवी को परम प्रसन्नता हुई। प्रजापति दक्ष ने वैदिक विधि से सती का विवाह भगवान्

भूतनाथ के साथ कर दिया। सती को लेकर शिवजी अपने कैलाश पर्वत पर चले गये और वहाँ तपस्या में मग्न हो गये। इस प्रकार सबसे छोटी दक्ष पुत्री का विवाह भगवान् सदाशिव के साथ हुआ।

यह सुनकर विदुरजी बोले—"भगवन्! परम साध्वी पतिव्रता सती की सन्तानों का भी वर्णन आप करें। शिवजी के सकाश से उनके कितनी सन्तानें हुईं? जैसे और दक्ष कुमारियों के पुत्र पुत्रियों के वंश का वर्णन किया है, उसी प्रकार सती शंकर के वंश को कहें।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! सती का वंश हुआ हो, तो उसका वर्णन करूँ भी, सती तो पूरी युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुई थीं, तभी अपने पिता के अपमान से कुपित होकर अपने आप योगाग्नि उत्पन्न करके भस्म हो गईं।"

यह सुनकर आश्चर्य के सहित विदुरजी पूछने लगे—"प्रभो! यह आप कैसी बातें कह रहे हैं! दक्ष तो अपनी सभी पुत्रियों से बड़ा स्नेह करते थे। फिर सतीजी तो सबसे छोटी सन्तान थीं। प्रायः माता पिताओं का सबसे अधिक स्नेह, छोटी सन्तानों पर ही होता है। दक्ष से ऐसा कौन-सा अपराध बन गया, जिसके कारण दुस्त्यज प्राणों को भी सती ने स्वेच्छा से त्याग दिया। भगवन्! प्राणों की रक्षा तो प्राणी सभी उपायों से करते हैं। जब तक काई घोर वेदना न हो, तब तक कोई प्राणों को छोड़ता नहीं।"

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! यह सत्य है, कि प्राणियों को प्राण सबसे अधिक प्यारे होते हैं, किन्तु प्राणों से भी अधिक प्रिय स्त्रियों के लिये पति का गौरव है। सती साध्वी पतिव्रता स्त्रियाँ सब कुछ सह सकती हैं, किन्तु वे अपने पति का अपमान सहन

नहीं कर सकतीं। भूल से भी उनसे कभी पति की इच्छा के विरुद्ध आचरण हो जाता है, तो उसका प्रायश्चित्त वे प्राणों की बलि देकर भी करती हैं। दक्ष प्रजापति ने निरपराध शिवजी का द्वेषवश बहिष्कार किया था। उनके प्रति अपना विरोध-भाव प्रदर्शित किया था।"

यह सुनकर दुगुने आश्चर्य के साथ विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! आप एक से एक अद्भुत बात कहकर मेरे कुतूहल को आवश्यकता से अधिक बढ़ा रहें हैं। शिवजी तो चराचर विश्व के गुरु हैं। वैर मनुष्य उसी से करते हैं, जो किसी से द्वेष करता है। शिवजी का तो सभी के प्रति समान भाव है, वे स्वयं भोलेनाथ शान्त मूर्ति हैं। अपनी आत्मा में ही सदा रमण करते रहते हैं। उनसे प्रजापति दक्ष ने वैर क्यों किया? श्वसुर तो अपने जामाता को पुत्र से भी बढ़ कर प्यार करते हैं, इन दोनों में ऐसा विद्वेष किस कारण हो गया? प्रभो! इस सम्पूर्ण कथा को विस्तार के साथ मुझे सुनावें। मुझे यह सब सुनने को बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर मैत्रेय मुनि हँसे और बोले—"विदुरजी! बड़ों की बड़ी ही बातें होती हैं। अच्छा, सुनिये, मैं विद्वेष का वृत्तान्त संक्षेप से सुनाता हूँ।"

छप्पय

बोले विस्मय-सहित विदुर मुनिवर तैं बानी।
प्रभो! कहौ का दच्छ-सती की अकथ कहानी॥
पुत्री प्रान समान प्रजापति दच्छ पियारी।
शान्त मूर्ति श्रीशम्भु चराचर गुरु त्रिपुरारी॥
जामाता अरु ससुर महँ, किहि कारन अनबन भई।
जा दुख तैं दुहिता दुखी, भई क्रोध करि जरि गई॥

प्रयागराज में प्रजापतियों का सत्र

[१८१]

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥*

(श्री भग० ४ स्क० २ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

बोले मुनि मैत्रेय–विदुर ! सुनु शम्भु चरित प्रिय ।
हर गुन अघ हरि लेत होत हरषित अतिशय हिय ॥
तीरथराज प्रयाग याग मिलि करें प्रजापति ।
आये ऋषि मुनि देव सत्र शोभे अद्भुत अति ॥
श्वेत नील वसना बहिन, सुरसरि अरु रविजा जहाँ ।
मिलैं मध्य वट के निकट, भीर भई भारी तहाँ ॥

बड़ों की बड़ी वासनाएँ होती हैं, छोटों की छोटी। कहीं चले जाइये। जहाँ तक माया का सम्बन्ध है, फिर चाहे वे बड़े हों या छोटे, लटे हों या मोटे, अच्छे हों या खोटे, निन्दित हों या वन्दित, पदच्युत हों या पद-प्रतिष्ठित, किसी देश के हों, किसी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पूर्वकाल में सभी प्रजापतियों ने मिलकर एक यज्ञ किया, जिसमें सम्पूर्ण महर्षि, देवता मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियों के सहित वहाँ एकत्र हुए ।"

वर्णं के हों, किसी जाति के हों, वही पद, प्रतिष्ठा की लालसा, वही छोटे-बड़े का भेद-भाव, वही मैं तू का प्रश्न, वही "मैं यहाँ बैठूंगा तू वहाँ क्यों बैठ गया, मैं श्रेष्ठ हूँ, यह कनिष्ठ है, वह शुद्ध है यह भ्रष्ट है, यह शोभा युत है, यह धर्मच्युत है। इसी का नाम है भगवान् की माया। भगवान् भी जब क्रीड़ा करना चाहते हैं, तो इन मायिक व्यवहारों में ऐसे घुल-मिल जाते हैं, कि ज्ञानी पुरुषों को छोड़कर कोई भी यह अनुमान नहीं लगा सकता, कि ये माया से परे हैं। सब समझते हैं, यह भी हमारी ही भाँति हैं। उनसे लड़ते-भिड़ते हैं, राग-द्वेष करते हैं, खरी-खोटी सुनाते हैं। गुप्तचर-विभाग का अधिकारी जब चोरों का पता लगाने जाता है, तो चोर बन जाता है। साधुओं में कोई चोर छिपा हो, तो वह भी साधु बन जाता है, और मूड़ मुड़ा कर गेरुआ कपड़े पहिन कर सभी के सम्मुख यह दर्शाता है, मानों साक्षात् शंकरजी संन्यासी-रूप में आ गये हों, किन्तु यह वेष इसने बनावटी रखा है, इसे उसी के विभाग के विशिष्ट पुरुष भेदी ही जानते हैं। सर्वसाधारण तो स्वामी समझ कर पैर की धूलि लेते हैं। और वह भी हाथ उठा कर कमंडल को खटका कर; गंभीरता से कहता है "नारायण नारायण" ईश्वरों के चरित्रों को इसी दृष्टि से समझना चाहिए। यदि वे कहीं काम, क्रोध, लोभ, मोह करते से दिखाई दें भी; तो समझना चाहिए कि ये नर नाट्य कर रहे हैं। शिव-सती चरित्र भी ऐसा ही, नारी-हठ और पति-प्रेम तथा परस्पर में तनातनी का है।"

जब विदुरजी ने सती के योगाग्नि में स्वतः भस्म हो जाने का कारण जानना चाहा, तब महामुनि मैत्रेय कहने लगे—विदुरजी! संसार में चाहे सामान्य लोग व्यवहार करें या असामान्य, ईश्वर कोटि के माया के बिना व्यवहार बनता नहीं।

ऋषि, मुनि, देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी माया का आश्रय लेकर ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। भगवान् की माया त्रिगुणमयी है।" तीनों गुण द्वन्दों से रहित नहीं हैं, अतः मायापति की माया को वही पार कर सकता है, जिसने मायेश के पाद-पद्मों का आश्रय ग्रहण कर लिया है। मछुआ जाल डालता है, आस-पास की सभी मछलियाँ फँस जाती हैं, किन्तु जो मल्लाह के पैरों के पास होती हैं; वे बच जाती हैं। प्राचीन काल में महत्ता प्रदर्शन करने का साधन यज्ञों का विस्तार था। जो जितने अधिक यज्ञ करे, जितना बड़ा समृद्धशाली चिरकालीन यज्ञ करे, वह उतना ही बड़ा समझा जाता था। विदुरजी! कलिकाल में बड़प्पन यज्ञों से न रहेगा। उस समय जो जितना अधिक विलासी हो।' विषय-भोगों में और नास्तिक विधर्मी विदेशी तथा राज्याधिकारियों की चापलूसी में; जो जितना ही अधिक धन अपव्यय करेगा, जिसके नाम के आगे जितनी ही बनावटी उपाधियाँ लगी रहेगी, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा जायगा। महाभाग! इसमें किसी का दोष नहीं, यह तो युगधर्म है।

हाँ तो उस समय सृष्टि का आरम्भ ही हुआ था। जिन्होंने सृष्टि की धर्मपूर्वक रचना में ब्रह्माजी का जितना ही अधिक सहयोग दिया, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा गया। जिन्होंने प्रजा की वृद्धि की, लोक में अपना वंश स्थापित किया वे सभी लोग प्रजापति कहलाये। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, अथर्वा, रुचि, कर्दम, मनु, दक्ष, अग्नि, धर्म आदि इन सभी की प्रजापति संज्ञा है।

सब प्रजापतियों ने सोचा—"अब तो पृथ्वी पर हमारी वंश-वृद्धि होने लगी। ब्रह्माजी ने यज्ञ-यागों की प्रथा प्रारम्भ कर ही दी है हम सब मिलकर एक बहुत बड़ा, हजारों वर्षों में समाप्त

होने वाला बृहद् यज्ञ क्यों न करें। इससे हम सबकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और धर्म का प्रचार भी होगा। मनुष्य करता है उन्नति के लिये, किन्तु उन्नति के साथ अवनति भी बिना बुलाये चली आती है। इसीलिये तो इसका नाम जगत् है, संसार-चक्र है। रथ के पहिये के भाँति घूमता रहता है। उन्नति के पश्चात् अवनति, अवनति के पश्चात् उन्नति। अवनति सदा उन्नति का वेष बना कर आती है। अपने रूप में आवे, तो उसे विदुरजी! कौन स्वीकार करे। कलियुग में वही उन्नत विचार का समझा जायगा, जो जहाँ-तहाँ चाहे जिनके हाथ का खा ले। चाहे जिससे वैध-अवैध सम्बन्ध कर ले। कुल गोत्र का, नियम मर्यादा का, धर्म कर्म का कुछ विचार न करे। इन सब कार्यों को साहसी लोग उन्नति और उत्थान के नाम से करेंगे। अस्तु—

सबने वृहद् यज्ञ का अनुमोदन किया। स्थान की खोज हुई। सभी ने एक स्वर से कहा—"गङ्गा यमुना की मध्य भूमि संसार में सबसे श्रेष्ठ सबसे सुन्दर और सबसे पावन तथा पुण्य प्रद है। उसमें भी जहाँ विष्णु पादाब्ज संभूता श्रीसुरसरि तथा सूर्यतनया भगवती कालिन्दी का संगम हुआ है, वह समस्त तीर्थों का सम्राट् प्रयागराज सबसे श्रेष्ठ है। अतः निश्चय हुआ कि यह यज्ञ गङ्गा यमुना के मध्य की रजत्-चूर्णिका के समान बालुका में किया जाय। सभी ने इसका अनुमोदन किया। सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह माघ मास में—मकर की संक्रान्ति के अवसर पर—किया गया। जिसने भी सुना वही यज्ञ देखने दौड़ा आया। 'एक पंथ दो काज' मकर गति रवि के माघ मास में तीर्थराज प्रयाग का संगम-स्नान और यज्ञ-दर्शन। तीनों लोकों की प्रजा उस यज्ञ में एकत्र हुई। आदि सत्युग का समय था तब तक देवता, असुर गन्धर्व प्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी पर आते जाते थे और मनुष्यों के

साथ बैठने-उठने आदि का व्यवहार करते थे। स्वर्गीय अप्सरायें प्रत्यक्ष आकर राजाओं की सभा में नृत्य करती थीं, गन्धर्व गाते थे। प्रजापति तो देवता और पितरों के भी जनक हैं, अतः सभी उस यज्ञ में आकर सेवा-कार्य करने लगे। महान् जमघट हुआ, अपार भीड़ हुई। दर्शनीय दृश्य था। चारों ओर सुन्दर बढ़िया वेदियाँ बनी थीं। कुशाएँ बिछी थीं, सुवर्ण के भाँति-भाँति के यज्ञीय पात्र रखे थे। पत्र, पुष्प और फलों की भरमार थी। पीले-पीले रेशमी वस्त्र पहिने ऋषि मुनि इधर से उधर उत्साह में भरे घूम रहे थे। "देखिये, आप उस सामग्री को लाना भूल गये। अजी! आप अच्छी प्रकार से देखिये, मैंने सम्हाल कर रखी है। हाँ, हाँ मिल गई, मिल गई। घृत आ गया, चरु तैयार करो, प्रधान देव की पीठ की रचना प्रथम होनी चाहिये। अरणि मथन का मुहूर्त कब है, पूजन कब आरम्भ होगा। ऋत्विज सदस्य सब को एकत्रित करें। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आचार्य सब के आसन पृथक्-पृथक् अति शीघ्र तैयार रहें।" इस प्रकार चारों ओर यज्ञ की तैयारियाँ हो रही थीं, सभी व्यस्त थे। सभी प्रजापति आ गये थे। यज्ञ आरम्भ हुआ, सहस्रों वर्षों तक होता रहा। अन्त में पूर्णाहुति का समय आया। पूर्णाहुति के लिये विविध भाँति की तैयारियाँ होने लगीं, प्रजापति आ गये थे। लोक पितामह ब्रह्मा ने पधार कर सभापति का आसन ग्रहण कर लिया था, किन्तु अभी तक दक्ष प्रजापति नहीं आये। इस प्रथम प्रजापतियों के चुनाव में ब्रह्माजी ने उन्हें प्रजापति परिषद् का प्रधान बना दिया था। प्रधान तो प्रधान ही ठहरे। प्रधान को प्रधान की ही भाँति आना चाहिये। पहिले आकर बैठ जायँ, तो किसे पता चले कौन है। जब सभा खचाखच भरी हो, तो खूब ठाट बाट से गम्भीरता के साथ जाना चाहिये। आदमी

आगे से हटो-हटो, रास्ता दो, कहते हुये चलें। सभा में खलबली मच जाय। लोग चकित हो कर देखने लगें। परस्पर में पूछने लगें—"ये कौन हैं, ये कौन हैं? इनका इतना आदर सभी क्यों कर रहे हैं?" इस प्रकार जाने से प्रतिष्ठा होती है। सब सम्मान करते हैं।

सभी ऋषि-देवता एकत्रित हो गये। ब्रह्मा जी उच्चासन पर विराजमान हुए। उनकी बगल में भगवान् भूतनाथ बैठे थे। आस-पास में सभी प्रजापति, देवता, ऋषि, मुनि अपने-अपने आसनों पर सुशोभित हो रहे थे। सभी बार-बार पूछते—"क्यों जी, अभी प्रजापतियों के पति श्री दक्ष जी नहीं पधारे? उनके बिना पूर्णाहुति का कार्य कैसे हो। सभी बड़ी उत्सुकता से दक्ष प्रजापति की प्रतीक्षा कर रहे थे इतने ही में बड़े ठाट-बाट से सज-धज कर दक्षजी आते हुए दिखाई दिये। सब के मुख, कमल की भाँति खिल गये। सभी उत्सुकता और संभ्रम के सहित उनकी ही ओर देखने लगे। बहुत से सेवक आगे-आगे पथ परिष्कृत करते हुए चल रहे थे, बहुत से सेवक पीछे-पीछे आ रहे थे। इस प्रकार बहुत से अनुयायियों से घिर कर प्रजापति दक्ष ने सभा में प्रवेश किया। उनके तेज को देखकर सभी स्तम्भित रह गये। सभी सहसा उठ-उठकर उन्हें प्रणाम करने लगे। देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, सब के सब अपने-अपने आसनों से उठकर प्रजापति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने लगे। दक्ष उन सब की ओर गम्भीरता से देखते और थोड़ा सिर हिलाकर उनके प्रणाम का उत्तर देते।

प्रधान मन्च के समीप पहुँच कर ऋषियों तथा ऋत्विजों ने उनका स्वागत किया, बैठने को उच्चासन दिया, पुष्पों की

मालाएँ पहिनाईं। वे अपनी टेढ़ी दृष्टि से बड़े कौशल से देखते जाते थे, कौन मुझे देखकर नहीं उठा। उन्होंने देखा, और सब ने तो उठकर मेरा सम्मान किया, किन्तु एक ब्रह्माजी नहीं उठे और एक शिवजी नहीं उठे। ब्रह्माजी नहीं उठे तो उनका न उठना उचित ही था। पिता थे, और यदि उठ पड़ते तो भी कोई बात नहीं थी, किन्तु यह शङ्कर क्यों नहीं उठा। इसके साथ तो मैंने अपनी पुत्री का विवाह किया है। जामाता पुत्र के समान होता है, ससुर गुरु माना गया है। यह तो मेरा सरासर अपमान है। भरी सभा में मेरा घोर तिरस्कार है। मुझे अपमानित करने को ही शिव ने ऐसी अविनय प्रदर्शित की है। ये सब लोग क्या सोचते होंगे, कि जमाई होकर शङ्कर न उठा, न वाणी से ही मेरा स्वागत-सत्कार किया।" इस प्रकार मन में सोचकर और रक्त का सा घूँट पीकर अनिच्छा पूर्वक ब्रह्माजी को प्रणाम करके उनकी आज्ञा से अपने आसन पर बैठ गये।"

छप्पय

दूरि-दूरि तेँ दौरि दौरि देवादिक आये।
गङ्गा यमुना मध्य यज्ञ लखि सब हरषाये॥
उच्चासन पै विश्वजनक श्रीब्रह्म विराजै।
चन्द्रमौलि ढिँग दिव्य तेज रविसम विभ्राजै॥
दक्ष प्रजापति मानयुत, आये सब ठाढ़े भये।
विधि सम अपनी पीठ पै, बैठे ही हर रह गये॥

दक्ष प्रजापति का शिवजी के ऊपर कोप

[१८२]

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचन ।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

समुझि अवज्ञा दक्ष कोप तैं भ्रष्ट भई मति ।
अरुण वरण मुख भयो, भ्रकुटि चढ़ि वक्र भई अति ॥
नयन रक्त सम भये कोप की किरनें छिटकें ।
कटकटाइकें दाँत, पैर पृथिवी पै पटकें ॥
भुज उठाइ शिव कूँ निरखि, अण्ड बण्ड बोले वचन ।
ज्यों द्विप लखि भूखे कुकुर, कछु न कहें हर त्यों मगन ॥

---

* शिवजी पर क्रोध करके दक्ष प्रजापति सबको सुनाते हुए कह रहे हैं—"देखो, इसने मेरा शिष्यत्व स्वीकार किया है; क्योंकि इसने साधु पुरुषों के समान मेरी सावित्री सदृश कन्या का ब्राह्मणों और अग्नि के सम्मुख पाणि-ग्रहण किया है। मेरी कन्या तो मृगनयनी है और इसकी आँखें बन्दर के समान हैं। मेरी कन्या के साथ विवाह करके

जब मनुष्य क्रोध में भर कर, अभिमान के कारण किसी को कोसने लगता है, उस समय वह धर्म की भी बात कहता है, तो अधर्म की-सी लगती है, क्योंकि अभिमानी तथा क्रोधी के समीप से सभी गुण भाग जाते हैं। क्रोधी से सभी डरते हैं। यहाँ तक कि इतने बलवान् धर्म भी क्रोधी से भयभीत होकर उसके हृदय से भाग जाते हैं। जब इतने बड़े बूढ़े धर्म ही क्रोधी के पास नहीं रहते, तो उनके स्त्री-बच्चे तो उसके समीप रह ही कैसे सकते हैं, क्रोध में भर जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है, उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। कौन-सी बात न कहनी चाहिए, कौन-सी कहनी चाहिए, इसका उसे ध्यान ही नहीं जो मुँह में आ जाता है, वही अंड-वंड-संड बकने लगता है। देह-धारियों की देह में कुछ न कुछ क्रोध का अंश तो रहता ही है, किन्तु ज्ञानी विवेकी उसे दबाये रहते हैं। जो शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, उसी के पालन पोषण और मान सम्मान में व्यस्त रहते हैं, वे क्रोध पर कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकते। वे सदा क्रोध के अधीन रहते हैं। इसीलिये उनका संसार बन्धन कटता नहीं है। वे बार-बार कर्म बन्धनों के अधीन होकर मरते और जन्म लेते रहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब प्रजापतियों ने अपने सभापति दक्ष को कुपित देखा, तो सब विस्मित से हो गये, कोई समझ न सके कि सभापति महोदय क्यों कुपित हो उठे हैं ? हमारे स्वागत सत्सकार में कौन-सी त्रुटि रह गई है ?

पर भी—मेरा जामाता होने पर भी—मेरे आने पर उठकर आदर करने की बात तो अलग रही, वाणी से भी सत्कार नहीं किया। इसका यह आचरण अत्यन्त ही अनुचित है।

बहुत से ऋषि मुनि उन पर सुगन्धित पदार्थ छींड़ने लगे। बहुतों ने मालाएँ पहिनाईं फूल बरसाये, किन्तु वह बाहरी गरमी तो थी नहीं, वह तो अन्तःकरण की जलन थी। दक्ष का कोप शान्त न हुआ। वे लाल-लाल आँखों से शिवजी की ओर देखते हुए, मानों वे इन्हें अपनी क्रोधाग्नि से भस्म ही कर देना चाहते हैं, सबको सुनाते हुए खड़े होकर यह कहने लगे। सब ने समझा सभापति का आरंभिक भाषण होगा। प्रजापतियों के पति महा-प्रजापति भगवान् ब्रह्मा का स्वागत सत्कार करेंगे। आये हुए ऋषि-मुनियों को धन्यवाद देंगे। अपने देर से आने के लिये क्षमा-प्रार्थना करेंगे और यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त होने के लिये सबकी ओर से प्रभु से प्रार्थना करेंगे। उपस्थित महानुभावो! माताओ और बहिनो! कहकर वे अपनी वक्तृता का आरम्भ करेंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत। दक्ष ने यह सब कुछ नहीं किया। हाथ उठाकर उन्होंने कहना आरम्भ किया।

क्रोध में भरे हुए दक्ष बोले—"समस्त देवताओ! अग्नियों! और महर्षियो! आप सब लोग मेरी एक बात सुनें। देखिये, बातें कई प्रकार की होती हैं। (१) कुछ लोग अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिये बोलते हैं। (२) कुछ लोग दूसरों को परास्त करने के निमित्त नाना तर्क और युक्तियों का आश्रय लेकर बोलते हैं। (३) कुछ पूछने पर यथार्थ बातें कहते हैं (४) कुछ लोगों को बोलने का व्यसन होता है, वे अपनी व्यसन की पूर्ति के लिये बोलते हैं। (५) कुछ लोग दूसरों को प्रसन्न करने के लिये चापलूसी को या हँसी ठट्ठा की बातें बोलते हैं। (६) कुछ लोग अज्ञान या मत्सरता के वंश होकर दूसरों को नीचा दिखाने को अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने को बोलते हैं। मैं इनमें से किसी भी कारण से यहाँ नहीं बोल रहा हूँ। मुझे कर्तव्य के

वशीभूत होकर शिष्ट पुरुषों का आचरण बताने के लिये बोलना पड़ता है।"

सब लोग चकराये कि इस इतनी बड़ी भूमिका का क्या अभिप्राय है। क्या बोलेंगे। भगवान् भृगु उनके सामने ही बैठे थे। सभा में यह नियम होता है, वक्ता बोलता तो सबके लिये है, किन्तु एक विशिष्ट व्यक्ति पर लक्ष्य रखता है। जो अपने वक्तव्य को विशेष ध्यान से सुनता हो, उसी की ओर बार-बार देखता है और इस तरह से कहता है, मानों अपने उचित अनुचित कथन का उससे समर्थन करा रहा हो। जिसे विशेष लक्ष्य करके बोला जाता है, यदि वह वृद्ध हुआ तो बीच-बीच में वक्ता की बातों का समर्थन भी करता जाता है। कुछ विषयों में उसके अनुरूप शंका भी उपस्थित करता जाता है, इससे वक्ता का उत्साह और बढ़ता है। दक्ष की भूमिका को सुनकर भृगु मुनि बोले, क्योंकि दक्ष बार-बार उन्हें ही देखकर कह रहे थे—"हाँ, हाँ, आप कहें, भला आप कभी अनुचित बात कह सकते हैं?"

इससे उत्साहित होकर दक्ष और भी उत्साहपूर्वक रोष के साथ कहने लगे—"देखिये, यह निर्लज्ज शिव जो मेरे सामने ब्रह्माजी की बराबर अकड़कर बैठा है, इसे भी पितामह ने लोकपाल बना दिया है। इसने समस्त लोकपालों की कीर्ति को दूषित कर दिया। लोकपालों के यश को मटियामेट कर दिया। इसने परम्परा से चले आये सदाचार को भी कलंकित कर दिया। धर्म की मर्यादा को नष्ट कर दिया, सत्पुरुषों के शिष्टाचार की अवहेलना की, मेरा ही नहीं, समस्त प्रजापतियों का अपमान किया। देखिये मुझे देखकर सभी शिष्टाचार से खड़े हो गये। यद्यपि मुझे इस बात की आकांक्षा नहीं कि कोई मुझे देखकर खड़ा हो। कोई खड़ा ही हो जाय, प्रणाम ही करे तो मुझे क्या

देगा। अपना ही भला करेगा। यह सनातन मर्यादा है कि बड़ों के आने पर खड़े होकर अभ्युत्थान करना चाहिये।"

भृगुजी बोले—"अजी, कोई बात नहीं! जो हो गया सो हो गया।"

भृगुजी को डाँटकर बोला—"हो कैसे गया जी! आप भी ऐसी धर्म-विरुद्ध बातें करते हैं। आपको पता नहीं यह मेरा जामाता है; जामाता पुत्र के समान, शिष्य के समान, सेवक के समान माना गया है। इसने धर्मपूर्वक अग्नि और ब्राह्मणों को साक्षी देकर मेरी कन्या का पाणिग्रहण किया था। हाय! मेरी कन्या के भाग्य फूट गये, अग्नि का पवित्र हवि कौवे के मुँह में पड़ गया। भगवान् के भोग के योग्य व्यञ्जनों को बन्दर उठा ले गया। सुखद बाहु समझ कर भूल में विषधर भुजङ्ग का प्रेमी ने आलिंगन कर लिया। चीनी के भ्रम से सुन्दर स्वादिष्ट खीर को नमक डालकर अखाद्य बना दिया। उस समय तो यह ऐसा भोला-भाला बन गया था। मुझे क्या पता था, यह इतना ढीठ है, इतना निर्लज्ज और कदाचारी है। देखिये, इसके नेत्र कैसे पीले-पीले बन्दर के, से हैं। मेरी मृगनयनी कन्या क्या इस कुलांगार के अनुरूप थी? क्या वह सुकुमारी इस भूत-पिशाचों के नायक के योग्य थी!"

भृगुजी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए बोले—"महाराज, ये सब बातें तो पहिले ही सोचने की थी। अब सोच करने से क्या होता है?"

दांत पीस कर हाथों को फटफटाते हुए दक्ष बोला—"क्या बताऊं महाराज! मैंने पहिले ही कहा था कि यह अघोरी मेरी छोरी की जोरी के योग्य नहीं है। मैं पहिले ही जानता था कि यह घृणित स्मशान में रहता है। पागलों भांति जटा बखेरे रहता

है। उन्मत्तों की तरह नंगा होकर नाचता है। सिड़ी पागलों की तरह बड़बड़ाता रहता है। गले में मुण्डों की माला पहिनता है। हड्डियों के आभूषण धारण करता है। आक धतूरा खाता है, भंग पीता है, नंगा रहता है गंग सिर पर बहाता है, अंग में भभूत रमाता है; संग में भूत पिशाचों को रखता है। जैसा यह अशुचि है वैसे ही इसके सब यक्ष, राक्षस भूत, बैताल, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, प्रेत गुह्यक आदि साथी हैं। 'जैसी अहो वैसी महो। इनके चूल्ह न उनके तश्रो।' नाम तो इसका शिव है किन्तु काम अशिवों के से करता है। कहते तो हैं यह कल्याणकारी है; किन्तु सदा प्रलय ही में तत्पर रहता है। हाय! मैं ठगा गया। जैसे कोई अपात्र शूद्र को वेद वाणी देता है। जैसे अनधिकारी को कोई योग विद्या प्रदान करता है, जैसे राक्षस के हाथ में कोई अपने बालक को दे देता है, उसी प्रकार मैंने; इस अपवित्र क्रियाभ्रष्ट, लोकमर्यादा को उल्लंघन करने वाले, अशिव, अघोरी अशुचि, आचारहीन, अभिमानी को अपनी दुहिता दे दी। आरम्भ से ही मेरी इच्छा नहीं थी। परन्तु मैं करता क्या, इन ब्रह्माजी की बुद्धि सठिया गई। मुझसे बार-बार आग्रह करने लगे इसे ही कन्या दे दे। इसी के साथ सती का विवाह कर दो।' मैं क्या करता, विवश था, बड़ों की आज्ञा टाल नहीं सकता था, फँस गया, चक्कर में आ गया। इसकी करतूतों को भूल गया। सोचा, विवाह हो जाने पर इसका मस्तिष्क ठीक हो जायगा। विवाहित हो जाने पर कुछ ढँग में आ जायगा। आदमी बन जायगा। सो, यह तो ज्यों का त्यों ही बना रहा। विवाह का इस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। मेरी सुकुमारी फूल सी बच्ची का इस उजड्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। सत्य है बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद। हाय! मेरी बच्ची का जीवन नष्ट हो गया। ऐसे पति

को पाकर वह कैसे सुखी होगी। भरी सभा में इसने मेरा अपमान किया। मैं इसकी अविनय को क्षमा न करूँगा, इसे इस धृष्टता के लिये दण्ड दूँगा। अभी यह अपने किये का फल पावे। इसने मुझे कुछ समझा ही नहीं। यह मुझे भी साधारण प्रजापति ही समझता है। इसे पता नहीं लोकपितामह ने मुझे प्रजापतियों का भी पति बनाया है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! इस प्रकार चराचर विश्व के स्वामी, अचिन्त्य, अप्रमेय भगवान् विश्वनाथ को बहुत से अवाच्य वचन कह कर भरी सभी में उनकी भर्त्सना और निन्दा करके भी दक्ष को संतोष नहीं हुआ। वह भगवान् वृषभध्वज को हाथ में जल लेकर शाप देने को उद्यत हो गया।"

छप्पय

बलबलाय ज्यों ऊँट झूँठवानी बहु जलपैं।
अहि सम उगलै गरल मनों बड़ पागल प्रलपै॥
बोल्यो—"यह शिव अशिव मुंडमाला नित धारे।
चिता भस्म तन लेपि हँसे रोवै किलकारे॥
हाय! अधम निरलज्ज कूँ, सती सरिस तनया दई।
विधि हठ मानी व्यर्थ ई, कन्या बिनु वर सम भई॥

दक्ष का शिवजी को श्राप

[१८३]

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥
अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २ अ० १७, १८ श्लोक)

छप्पय

बकै बात बहु बुरी बुद्धि विधि ने हरि लीन्हीं ।
क्रोध मान वश भयो पेट भरि निन्दा कीन्हीं ॥
तऊ नहीं संतोष भयो जल हाथ उठायो ।
सम्बोधन करि शाप सबनि कूँ दक्ष सुनायो ॥
सुनहु सभासद श्रवन दै, सत्रनि महँ शिव जायगो ।
तो यह देवन में अधम, यज्ञ भाग नहिँ पायगो ॥

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! सम्मुख भोले-भाले सरल स्वभाव से बैठे हुए शिवजी की विविध प्रकार से निन्दा करके जल को स्पर्श करके उन्हें शाप देने को उद्यत हुए । दक्ष बोले—यह शिव सम्पूर्ण सुरों में अधम है । अतः यह इन्द्र उपेन्द्र आदि देवताओं के साथ देवयज्ञों में यज्ञभाग का अधिकारी आज से न समझा जायगा ।

सब अनर्थों की जड़ है काम। काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य होने से क्रोध आता है। क्रोध तीन प्रकार का होता है, पत्थर की लकीर के समान, बालू की लकीर के समान और जल की लकीर के समान। श्रेष्ठ पुरुषों को पहिले तो कभी क्रोध आता ही नहीं, क्योंकि वे तो मन को वश में किये रहते हैं, फिर भी कभी प्रकृतिवश क्रोध आ जाता है, तो वह पानी की लकीर के समान होता है। आया और तत्क्षण मिट गया। जैसे पानी में लकीर खींचते चलो। आगे खिचती चलेगी, पीछे की तत्क्षण मिटती चलेगी। साधारण लोगों को क्रोध आता है, कुछ दिन उसका वेग रहता है। कालान्तर में क्रोध शान्त हो जाता है। उसे भूल जाते हैं। जैसे बालू में अभी लकीर बना दी। कुछ देर बनी रही। जहाँ वायु आई लकीर मिट गई। कुछ कठोर हृदय के ऐसे पुरुष भी होते हैं, कि उनका क्रोध मृत्यु पर्यन्त नहीं जाता, वे बिना बदला लिये शान्त नहीं होते। कई ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, कि अपने शत्रु को किसी भाँति वश में आते न देखकर उसके साथ अपनी बहिन बेटी का विवाह करके, उसे विश्वासित करने के अनन्तर छल से मार दिया है। ऐसे लोगों का क्रोध पत्थर की लकीर के समान है, जो कभी मिटता ही नहीं। दक्ष प्रजापति उन्हीं कठोर प्रकृति के पुरुषों में से थे।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! क्रोधी के सम्मुख चुप-चाप बैठे रहें; तो उसका क्रोध और बढ़ता है। शिवजी को सरल भाव से बैठे देखकर दक्ष और भी अधिक बिगड़े। वे सोचने लगे—"यह मुझे कुछ समझता ही नहीं। अब भी उठकर पैरों पर नहीं पड़ता। अब भी याचना नहीं करता। अच्छी बात है आज यह मेरा प्रभाव देखे। इसे मैंने देवत्व से पृथक् न कर दिया

तो मेरा नाम दक्ष नहीं।" यह सोचकर आचमन करके हाथ में जल लेकर वे शिवजी को शाप देने लगे। सबको सुना कर बोले— "सब लोग कान खोलकर सुन लेना भैया! मैं इस सुराधम शङ्कर को यही शाप देता हूँ कि आज से यह यज्ञों में देवताओं के साथ यज्ञ भाग का अधिकारी न समझा जाय। इसे आज से हमने अपनी जाति पाँति से पृथक् कर दिया है। कोई भी इसके साथ आगे से रोटी बेटी का सम्बन्ध न करे।"

इस प्रकार जब वे शाप दे रहे थे, उस समय सज्जन पुरुषों ने बीच में उन्हें टोका, बहुत कुछ रोका और बार-बार कहा— "महाराज, यह आप क्या कर रहे है। जो हुआ सो हुआ। ये भगवान् शंकर तीनों देवों में से हैं। न सही, आपके जामाता तो हैं। आपको इन्हें शाप नहीं देना चाहिये। यह कार्य उचित नहीं, किन्तु दक्ष भला किनकी सुनते हैं, उनके सिर पर तो क्रोध का भूत सवार था; वे तो अपने आपे में ही नहीं थे। उन्हें तो अपनी श्रेष्ठता का अभिमान था। सज्जन पुरुषों की बातों पर ध्यान हो नहीं दिया।"

सभा में सभी प्रकार के पुरुष होते हैं। कुछ हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं। कुछ प्रभावशालियों को सभी उचित अनुचित बातों का समर्थन ही करने वाले होते हैं। यथार्थ वक्ता तो कम ही हुआ करते हैं। महर्षि भृगु अपनी दाढ़ी हिला-हिला कर शिवजी की ओर देख रहे थे और दक्ष की हाँ में हाँ मिलाते जाते थे। उनके समीप ही बैठे भग देवता अपनी आँखों को मटका-मटका कर दक्ष को और भी अधिक उत्साहित कर रहे थे। पूषा देवता अपने श्वेत दाँतों की पंक्तियों को दिखा कर है: है: करके हंस रहे थे। कुछ स्वाहा-स्वाहा करने वाले शुष्क कर्मकांडी शिवकी निन्दा सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे और सोच रहे थे—

"अच्छा है ये शिव देवताओं से पृथक् कर दिये जायं। नर मुण्ड हड्डी सहित ये देवताओं की पंक्ति में बैठकर खाते पीते हैं। कोई डर से बोलता नहीं। बड़े जो करें वही अच्छा। छोटे करें तो वे दण्डनीय समझे जाते हैं। इस प्रकार दक्ष के शाप का मन ही मन कुछ ने अनुमोदन किया, कुछ ने विरोध किया।

दक्ष तो क्रोध में इतना आपे से बाहर हो गया था, कि वह फिर सभा में बैठा ही नहीं। शिवजी को शाप देकर तुरन्त वहाँ से चला गया।

शंकरजी तो भोले बाबा ही ठहरे। इतनी सब बातें हुईं। वे अपना चुपचाप अबोध बालक की भाँति निर्विकार बैठे रहे किन्तु उनके गणों में प्रधान अग्रगण्य नन्दीश्वर से अपने स्वामी को इस प्रकार की अवज्ञा सहन न हुई। शिवजी के शाप को सुनकर उनके नेत्र क्रोध से लाल-लाल हो गये। वे भी आचमन करके हाथ में जल लेकर दक्ष को तथा उनके अनुयायी और समर्थकों को शाप देने के लिये उद्यत हुए।

सबसे पहिले उन्होंने दक्ष को ही शाप दिया। दक्ष ने तो शिवजी को एक ही शाप दिया था, नन्दीश्वर ने बदले में चार शाप दिये।

१—यह मूर्ख दक्ष इस मरणधर्मा अनित्य क्षुद्र शरीर में ही आत्म बुद्धि माने बैठा है, इसलिये इसे कभी भी तत्त्व-ज्ञान न हो।

२—यह मूर्ख शिवजी के सत्य स्वरूप को न समझ कर—ये मेरे जामाता हैं—ऐसी गृहस्थियों की बुद्धि उनमें रखता है। इसे अपने यज्ञ याग अग्निहोत्र का बड़ा अभिमान है, त्रिवर्ग को ही सब कुछ समझता है, अतः यह गृहस्थाश्रम में लम्पट होकर सदा कर्मकाण्ड में ही फंसा रहे।

३—यह अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो और शीघ्र ही इसका मुख बकरे का सा हो जाय और बकरे की सी बोली बोला करे।

४—इसका जन्म मरण का चक्कर शान्त न हो। यह बार-बार कर्मानुसार जन्म लेता और मरता रहे। इसकी बात का जिन्होंने समर्थन किया है इसके वे साथी भी संसार चक्र में पड़े रहें।

दक्ष को शाप देकर अब उन्होंने उन कर्मकांडी, शुष्क-हृदय शङ्कर-द्रोही ब्राह्मणों को शाप दिया, जो शिव-शाप सुनकर सुखी हुए थे। नन्दीश्वर कहने लगे।

१—जो केवल दक्षिणा के लोभ से यज्ञ कराने वाले शुष्क-हृदय, शिव-द्रोही ब्राह्मण हैं वे भक्ष्या भक्ष्य के विचार से रहित हो जायँ।

२—ये जो भी विद्या पढ़ें, तप करें, व्रतादि ग्रहण करें, सब धन के ही लोभ से करें। इन कार्यों से ही अपनी जीविका चलावें।

३—इन्हें सदा पेट पालने और शरीर परिवार के पालन पोषण की ही चिन्ता लगी रहे।

४—ये सदा भिखारी बने रहें। भीख माँगते-माँगते ही जीवन वितावें।

भृगुजी ने देखा—अरे, यह बैल तो बड़ी बढ़-बढ़ कर बातें बना रहा है। इसने तो ब्राह्मणकुल को घोर शाप दे दिया। इस लिये वे नाममात्र के शिव अनुयायियों को शाप देने लगे। भृगु ने शिव-भक्तों का वेष बनाने वालों को ये शाप दिये।

१—शिव-भक्तों में अधिकांश पाखंडी हों, वे वेद शास्त्रों के निन्दक हों।

२—उनके आचरण भ्रष्ट हों, वे शिवजी की देखा-देखी चिता-

भस्म, जटा, हड्डियों की माला धारण करके सदाचार से पतित हों और मदिरा मांस के सेवन करने वाले हों।

महर्षि भृगु बोले—"हम शिव जी के लिये कुछ नहीं कहते। वे जो करें करते रहें, किन्तु तुम जो अपने को शिव-भक्त कहते और वैदिक सनातन मार्ग की निन्दा करते हो, इसलिये तुम सब वेद विरुद्ध आचरण करने वाले पाखंडी हो जाओ।"

महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी ! इस प्रकार दोनों ओर से शापाशापी हुई। शिवजी को अब कुछ बुरा सा लगा कि देखो व्यर्थ में इतनी बात बढ़ गई। इसलिये वे भी कुछ अन-बने से होकर अपने अनुयायियों के सहित चुपचाप सभा से उठ कर चले गये।"

यह सुनकर शौनकजी सूतजी से बोले—"सूतजी, यह तुमने क्या शापशापी की बात सुना दी। शिव जी की तो किसी भी प्रकार निन्दा सुनना पाप है। प्रसंग-वंश ही सही, जो शिवजी की निन्दा सुनता है, उसके कान कलुषित हो जाते हैं। अब इस कथा को पूरी करने के पूर्व हमें कुछ विश्वनाथ शिव की महिमा सुना दो जिससे हमारे कान पवित्र हो जायँ, कथा में चित्त लगे और हृदय में आह्लाद उत्पन्न हो। प्रजापति दक्ष की भी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गई कि जगद्वन्द्य भगवान् भूतनाथ को ऐसी कठोर-कठोर बातें सुना दीं।

यह सुनकर सूतजी बोले—महाभाग ! बातें मुझे भी ये अच्छी नहीं लगतीं; किन्तु किया क्या जाय; कथा-प्रसंग में तो ये कही ही जाती हैं। रही शिवजी की महिमा की बात, सो मैं अल्प-मति शिवजी की महिमा कह ही क्या सकता हूँ। शेष शारदा भी उनके गुणों के गान में समर्थ नहीं। फिर भी मैं यथा-मति कुछ शिव-महिमा कहकर आगे इस कथा-प्रसंग को पूरा करूंगा। शिव

सब देवों में श्रेष्ठ हैं, वे वरदानियों में सबसे उदार, सर्वमान्य और सर्व-फलदाता हैं। उनके गुणों की संख्या नहीं, चरित्रों की गणना नहीं। जैसे गङ्गाजी में से एक चुल्लू जल पीने से ही पाप कट जाते हैं, उसी प्रकार शिव-चरित्र को थोड़ा भी सुनने से महान् पुण्य होता है। मैं शिव-महिमा सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

देकें शिव कूँ शाप क्रोध में भरि चलि दीन्हों।
कछु ने अनुचित कह्यो कछुक अनुमोदन कीन्हों॥
नन्दी दीन्हों शाप दक्ष अज्ञानी होवै।
बकरा को मुख होहि प्रतिष्ठा अपनी खोवै॥
शिव-द्रोही जो विप्रगन, ते जग महँ याचक रहैं।
भृगु बोले—जो नाम के, शैव अशुचि बनि दुख सहैं॥

श्री शिव महिमा

[१८४]

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत ! शाप की कथा सुनाई ।
शिव-निन्दा तो हमें नेंकऊ नाहिँ सुहाई ॥
शिव महिमा कछु कहो जगत् दृढ़ बंधन तोरे ।
मन महँ उपजै मोद सुधा श्रवननि महँ घोरे ॥
काशीवासी शम्भु हर, त्रिपुरारी शिव सतीपति ।
नाम रटत भव-भय कटत, गुन सुनि होवे चरन-रति ॥

---

* उन सर्वज्ञ आत्माराम भगवान् शंकर के चरित्रों को देखकर वे अभागे लोग ही हंसते हैं जो कुत्तों के भक्ष्य-रूप इस शरीर को ही आत्मा मानकर-नाना भाँति के वस्त्र, आभूषण, माला तथा चन्दनादि अनुलेपों के द्वारा इसी के लालन पालन और शृंगार आदि में लगे रहते हैं ।

प्रसंग में भी कानों में गुरु-निन्दा, ईश्वर-निन्दा पड़ जाय, तो उसका प्रायश्चित करना चाहिये। भगवान् के नामों को स्मरण करना चाहिये, उनके गुणों का गायन करना चाहिये, उनके अचिन्त्य रूप का ध्यान करना चाहिये। तब श्रवण पवित्र होते हैं। तव हृदय का मल धुलकर वहाँ पावनता आती है। शिव सम्पूर्ण जगद् के जनक, पालक और संहारक हैं। उनसे बड़ा कोई देव नहीं वे देवाधिदेव हैं, महादेव हैं। अन्य सभी देव उनके अंश हैं। वे सभो को वर देने वाले हैं। संसार में सबको समान-भाव से बिना किसी भेद भाव से मनोवांछित फल देने वाले औघड़दानी शिव हो हैं। उन शिव की महिमा को वर्णन करनें की सामर्थ्य किसमें है।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"महर्षियो! आप सभी शिव-भक्त हैं, आप सब भस्म धारण करके पंचाक्षरी मन्त्र का जप करते हैं; शिवाराधन करते हैं। आपके सम्मुख में शिव-महिमा क्या वर्णन कर सकता हूँ। मेरे तो एक मुख है एक जिह्वा है। चार मुख वाले ब्रह्माजो भी उनका गुण वर्णन करना चाहें तो नहीं कर सकते। पंचमुख रुद्र स्वयं शिव की महिमा गान करने में असमर्थ हैं। षडमुख कार्तिकेय तो उनके पुत्र ही ठहरे। छः मुखों से निरन्तर गान करें, तो वे भी थक जायँगे। शिव-गुण-रूपी अगाध सागर से एक विन्दु- जल के समान भो वे उनके प्रभाव को नहीं उलीच सकते। दशमुख रावण तो बिचारा कहेगा ही क्या, उसे तो जो कुछ प्राप्त हुआ शिवजी की कृपा प्रसाद से ही प्राप्त हुआ। अधिक विस्तार न करके मैं तो यही कहता हूँ कि हजार फण वाले—दो हजार जिह्वा वाले शेषजो भी सृष्टि के आदि से अन्त तक बिना विश्राम के हर-गुन गाते रहें तो भी उनका पार नहीं पा सकते। श्रीकृष्ण परात्पर पुरुष माने गये हैं;

किन्तु उन्होंने भी पुत्र प्राप्ति के लिये पशुपति शिव को ही प्रसन्न किया था। उनकी आराधना से ही उन्होंने साम्ब जैसा त्रैलोक्य-सुन्दर सुत प्राप्त किया था। अब इससे अधिक मैं शिव-महिमा क्या कहूँ ?"

यह सुन कर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी ! इन श्रीकृष्ण भगवान् के लिये तो दूर से ही डंडौत है। इनकी महिमा जानी ही नहीं जा सकती। तपस्या करते तो किसी और काम के लिये। पुत्र के लिये के लिये क्यों तप किया ! इस कथा प्रसंग को आप हमें अवश्य सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इन ईश्वरों की लीला वे ही जानें। हम मन्दबुद्धि पुरुष तो उनके ऐसे आचरणों से विमोहित से हो जाते हैं। अच्छी बात है, सुनिये; जिस प्रकार भगवान् ने भूतनाथ भुवनेश्वर की आराधना करके पुत्र प्राप्त किया।

रुक्मिणी के प्रद्युम्न आदि पुत्र हो गये थे। वे बड़े भी हो गये थे किन्तु जाम्बवती के कोई पुत्र नहीं था। मुनिवर ! स्त्रियों को पुत्र-प्राप्ति की बड़ी लालसा रहती है। वह लालसा तब और भी बढ़ जाती है, जब उनकी सौतें पुत्रवती होकर घर में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती हैं, मातृ-पद पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं, तब उनके हृदय में सौतियाडाह उत्पन्न होता है। जाम्बवती के हृदय में भी यही भाव उत्पन्न हुआ। उसने एक दिन एकान्त में अपने सर्वसमर्थ पति भगवान् वासुदेव से कहा—"प्रभो ! देखिये, रुक्मिणीजी के दस-दस पुत्र हो गये। मेरे अभी तक कोई पुत्र नहीं है। आपने १२ वर्ष तक घोर तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न किया था। उसी के फलस्वरूप रुक्मिणीजी पुत्रवती बन सकीं। आप सर्वसमर्थ हैं। नई सृष्टि बना सकते हैं। आपके लिये कुछ भी कठिन नहीं। मैं भी चाहती हूँ, मेरे भी एक ऐसा अनुपम

सुन्दर पुत्र हो जिसकी बराबर सुन्दर संसार में दूसरा कोई न हो। आप मुझे कामदेव से भी बढ़कर सुन्दर सुत दें। प्रभो! आप मेरी इच्छा को अवश्य पूर्ण करें। मैं कभी आपसे कोई आग्रह नहीं करती, किन्तु इस विषय में मेरा आग्रह है और मुझे विश्वास है, आप मेरे आग्रह को टालेंगे नहीं।"

अपनी प्राण-प्रिया पत्नी की ऐसी बात सुनकर चराचर विश्व के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया को प्रसन्न करते हुए बोले—"देवि! मैं तुम्हारी मनोवांछा अवश्य पूरी करूँगा, किन्तु ऐसे भुवन-मोहन त्रैलोक्य-सुन्दर, अनुपम-रूपलावण्य वाले पुत्र की प्राप्ति के लिये मुझे पुनः भगवान् भूतनाथ की उपासना करनी पड़ेगी। बिना शङ्कर को प्रसन्न किये ऐसा पुत्र प्राप्त नहीं हो सकता। अतः कुछ दिन तुम्हें मेरा वियोग सहन करना पड़ेगा। द्वारका छोड़कर मुझे हिमालय में रहना पड़ेगा। यदि तुम्हें यह स्वीकार हो, तो 'तुम्हें परम सुन्दर पुत्र लाभ हो' इस संकल्प से सकल जगत् के स्वामी सदाशिव की मैं आराधना करूँ और उन्हें प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति का वरदान पाऊँ।"

जाम्बवती को तो पुत्र-प्राप्ति की चटपटी लगी हुई थी। उसने उल्लास के साथ कहा—"हे यदुनाथ! आप अवश्य वृषभध्वज की आराधना करने हिमालय जायँ। यद्यपि आपका वियोग मेरे लिये असह्य है, किन्तु पुत्र-प्राप्ति की इच्छा मेरे हृदय में अत्यन्त बलवती हो रही है। अतः जिस किसी प्रकार भी मैं अपने जीवन को धारण करे रहूँगी। समस्त देवी देवता आपका कल्याण करें। वायु आपके अनुकूल हो। सब ऋतुएँ आपको सुखप्रद हों। भगवान् विश्वनाथ शीघ्र ही आप पर प्रसन्न हों। आप शीघ्र ही अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर सकें। हे मधुसूदन! पुत्र-प्राप्ति के लिये और मेरी सूनी गोद को भरने के लिये आप हिमालय के

गंधमादन पर्वत पर जायँ। वहाँ पार्वती-सहित परात्पर परमेश्वर सदाशिव की आराधना करें।

इतना कह कर जाम्बवती ने भगवान् का स्वस्त्ययन किया, यात्रा के सभी मांगलिक कृत्य किये। इस प्रकार अपनी प्रिया से सत्कृत होकर और उससे विदा लेकर भगवान् गंधमादन की ओर चलने को तैयार हो गये।

वे अपने बड़े बूढ़ों से भी मिले। माता-पिता से भी आज्ञा माँगी। महाराज उग्रसेन से भी अनुमति ली, बलरामजी से सम्मति और अनुमति लेकर वे अकेले हो हिमालय की ओर चलने को उद्यत हुए। पहाड़ का विकट मार्ग, रथ आदि तो वहाँ जा नहीं सकते थे, अतः उन्होंने गरुड़ को स्मरण किया। स्मरण करते ही गरुड़जी तुरन्त वहाँ आ गये और हाथ जोड़कर बोले— "भगवन् ! सेवक को क्या आज्ञा है ? किस कारण से मुझे स्मरण किया है ?"

भगवान् बोले—"भैया, फिर शिवजी की तपस्या के लिये हिमालय चलना है। बिना शङ्कर की आराधना किये कोई भी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता। चराचर के स्वामी शङ्कर ही हैं। वे ही वरदाताओं में श्रेष्ठ और आशुतोष हैं। अतः उनकी उपासना के निमित्त इसी क्षण गन्धमादन चलना है।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके मन ही मन मुस्कराते हुए गरुड़जी बोले—"जैसी आज्ञा चलिये।" यह कह कर भगवान् उनके ऊपर सवार हो गये। गरुड़जी अपने पङ्खों से सामवेद की ऋचाओं का घोष करते हुए बात की बात में अनेक वन, पर्वत, नदी-नद और जल-प्रपातों को नाँघते हुए गन्धमादन पर्वत के निकट जा पहुँचे।

गंध-मादन पर्वत पर सदा ही भगवान् नर-नारायण तपस्वी

रूप से निवास करते हैं। वहाँ बहुत से ऋषि-मुनियों के आश्रम हैं। पर्वत पर अनेक प्रकार की औषधियाँ हैं। फलों के वहाँ असंख्यों वृक्ष हैं जिनमें से सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है। वहाँ ऐसा एक भी पौधा नहीं जिसमें से दिव्य गन्ध न आती हो, इसीलिये तो उस पर्वत का नाम गन्धमादन है। वह किन्नर और अप्सराओं के विहार का स्थान है। यक्ष विद्याधर तथा गन्धर्व भी अपनी प्रियाओं के साथ वहाँ की कन्दराओं में विहार करते रहते हैं। यह समस्त भूमि भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ास्थली है। शिवजी अपनी प्रिया पार्वती के साथ गिरि-कन्दराओं में, पर्वत-शिखरों पर, भगवती अलकनन्दा के तटों पर स्वच्छन्द क्रीड़ा करते रहते हैं। बहुत से सिद्ध; यति, योगी और ऋषि मुनि उनकी सर्वदा आराधना करते रहते हैं। उसी परम रमणीय पार्वत्य प्रदेश में जाकर भगवान् वासुदेव अपने लिये तपस्या का स्थान खोजने लगे। अनेक ऋषियों के आश्रमों को देखते हुए भगवान् महामुनि व्याघ्र-पाद के परम तेजस्वी पुत्र महात्मा उपमन्यु के दिव्य आश्रम के समीप पहुँच गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस शान्त एकान्त परम मनोहर आश्रम को देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और वहीं उन्होंने रह कर तपस्या करने का निश्चय किया।"

छप्पय

सूत कहें—सुत जाम्बवती ने हरि तैं माँग्यो।
लखि सौतिन सुत डाह सौतिया मन महँ जाग्यो ॥
श्रीहरि हँसिकें कहें—होहि सुत शिव आराधें।
विषय भोग तजि नियम कठिन व्रत यदि हम साधें ॥
हरि पत्नी आग्रह लख्यो, गरुड़ चढ़े हिम गिरि गये।
निवसें जहँ उपमन्यु मुनि, लखि आश्रम हरषित भये ॥

शिव-भक्त उपमन्यु के आश्रम पर भगवान्

[१८५]

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिःसताम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

मुनि ने निरखे कृष्ण यथा विधि स्वागत कीन्हों ।
अक्षत, तुलसी, पुष्प अर्घ्य चन्दन युत दीन्हों ॥
करि पूजा स्वीकार कहें—मुनि ! हर गुन गाओ ।
शिव के सुखद प्रसंग प्रेम तैं मोहिँ सुनाओ ॥
मुनि बोले—इहि थल विभो ! बहुत बरष तैं ! हौं रहूँ ।
सिद्धि असुर सुर जिन लही, कछुक कथा तिनकी कहूँ ॥

---

*जो मनीषी पुरुष अविद्या के आवरण को हटाने की इच्छा करते हैं, वे उन शिव के निर्दोष चरित्रों का गान करते हैं। संसार में उन शिव के समान ही जब कोई नहीं है, तो अधिक तो हो ही कौन सकता है ? वे ही विश्वनाथ शंकर सत्पुरुषों की एकमात्र गति हैं, तो भी वे पिशाचों की चर्या को स्वीकार किये हुए हैं। उनकी महिमा विचित्र है।

'श्री' के अनेक रूप हैं। सात्त्विक श्री, राजस श्री, तामस श्री, ब्राह्मी श्री, आदि अनेक प्रकार से शोभा व्यक्त होती है। ऋषि, मुनियों के आश्रम पर ब्राह्मी श्रीं विराजती है। विलासी धनिकों, राजा-महाराजाओं की वाटिकाओं में भी वृक्ष होते हैं और ऋषियों के आश्रमों में भी होते हैं। दोनों में बड़ा अन्तर है। विषयी पुरुषों के उद्यानों के वृक्ष राजस् होते हैं। उनके नीचे बैठ कर विषयी लोग विषय-वार्ता करते हैं। उनके पुष्पों को तत्काल तोड़कर विषय-युक्त विषैली वायु से, वे विषयी सूंघते हैं। उनके फलों को स्वतः ही वे खाते हैं, जिनसे उनकी विषय-वासना बढ़ती है; किन्तु साधु-महात्माओं के उपवनों के वृक्ष सात्विक होते हैं। उनके नीचे बैठ कर बालवटु वेदाध्ययन करते हैं, भक्त-गण उनकी छाया में कृष्ण-कीर्तन, कृष्ण-कथा करते हैं। उनके पुष्प भगवान् की सेवा में काम आते हैं। उनके फलों को स्वतः कोई खा नहीं सकता। पहले वे भगवान् को अर्पण होंगे, तब प्रसाद-रूप से सब पावेंगे। उन वृक्षों में ब्राह्मी सम्पत्ति स्पष्ट झलकती है। धनिकों के यहाँ भी पालतू पशु रहते हैं; किन्तु वे बन्दी की भाँति अपने दिन काटते हैं। वे ही पशु जब ऋषि-आश्रमों में स्वच्छन्द विचरते हैं, तो उनकी शोभा निराली हो जाती है। वहाँ वे प्रेम-बन्धन में बँध कर रहते हैं। उनके दर्शनों से हृदय भर जाता है। उनकी चेष्टा में सात्त्विकता टपकती है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गंधमादन पर पहुँच कर भगवान् ने गरुड़जी को तो विदा कर दिया। अब वे महर्षि उप-मन्यु के आश्रम पर आये। आश्रम क्या था, वह एक फल-फूलों का सजा-सजाया गुच्छा-सा प्रतीत होता था। भाँति-भाँति के वृक्ष उस आश्रम की शोभा बढ़ा रहे थे। वे सब फल-फूलों से सुशोभित थे। पहाड़ों पर ही फूलने वाले धव के सुन्दर वृक्ष सघन

वन के समान उगे थे। कम्दब के हरे-हरे वृक्षों पर गोल-गोल फूल ऐसे लगते थे मानों श्यामा के रोमाञ्चित पयोधर हों। नारियलों के वृक्षों पर नर-मुण्डों के समान हरे लाल रंग के बहुत से फल लटक रहे थे,। उनके लम्बे-लम्बे पत्ते वायु में उसी प्रकार हिल रहे थे, मानों कोई बाहु को हिलाकर पथिकों को बुला रहा हो। केतकी अपने यौवन के आरम्भ में फूल रही थी। जामुन के काले-काले फल इसी प्रकार प्रतीत होते थे मानों बहुत से भ्रमर उसकी शाखाओं में चिपके हों। लाल, पीले, श्वेत, गुलाबी आदि विविध भाँति के पाटल अपने बड़े-बड़े पुष्पों की सुगंधि से आश्रम को सुगन्धमय बना रहे थे। कहीं-कहीं विशाल वट के वृक्ष अपनी बड़ी-बड़ी शाखाओं से बहुत से भू-भाग को घेरे हुए थे। उनकी शाखाओं में से जटाएं निकल-निकल कर खम्भों के सदृश बन गई थीं। उनके लाल हरे कोमल पत्ते इतने सघन थे, कि आकाश दिखाई ही नहीं देता था। गोल-गोल लाल-लाल पके फलों के लोभ से बहुत से पक्षी उन पर बैठे हुए विविध भाँति के शब्द कर रहे थे। बेल के काँटेदार वृक्षों में फल भी लगे थे और वे फूल भी रहे थे। उन फूलों की भीनी-भीनी सुगन्धि बड़ी ही मादक सी प्रतीत होती थी। तीन-तीन पत्तों वाले शिवजी के अत्यन्त प्रिय वे वृक्ष अत्यन्त सघन दिखाई देते थे। ऋषि नित्य ही उनसे बेलपत्र तोड़कर शिवजी का पूजन करते थे। बेल के नीचे लक्ष्मीजी सदा रहती हैं। इसलिए बिल्व के फल का दूसरा नाम श्रीफल भी है। सरल और कपित्थ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष मानों आकाश से बातें करने को बढ़े चले जा रहे हों। बड़े-बड़े कपित्थ के फल नीचे पड़े हुए थे जिन्हें खाने के लिए जंगली हाथियों के झुण्ड उधर ही आ रहे थे। आम के सुन्दर वृक्ष फलों से लदे हुए थे। शाल, ताल, तमाल के वृक्षों से आश्रम की पर्ण-कुटियाँ

दिखाई नहीं देती थीं। जंगली बेर के वृक्ष वहाँ के विचित्र प्रकार के थे। देश में जैसे बेर होते हैं, वैसे वहाँ के नहीं थे। वे बड़े कोमल, मृदु और दर्शनीय थे। कुन्द, मालती, यूथिका की बेलें वृक्षों से लिपट कर अपना प्रेम प्रदर्शित कर रही थीं। उनके फूले हुए फूल रोमाञ्चित अंग के सदृश दिखाई देते थे। केलों का सघन वन था, जिनके नीचे बैठकर हिरन जुगार कर रहे थे। अशोक के चिकने-चिकने चमकते हुए पत्ते, मौलश्री के छोटे-छोटे सुगन्धि-युत पुष्पों से सटकर बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कटहल के लम्बे-लम्बे काँटेदार फल वृक्ष की शाखाओं और जड़ों में से ही निकल रहे थे। इस प्रकार के आश्रम को देखकर भगवान् को बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ भाँति-भाँति की जातियों के पतले-मोटे, बड़े-छोटे; एक सींग वाले, छः सींग वाले, बारह सींग वाले, बादामी, काले, लाल स्वच्छन्द हिरन घूम रहे थे। वृक्षों पर बन्दर बैठे थे। कहीं काले मुँह के लंगूर पूँछ लटकाये ध्यान-सा कर रहे थे। कहीं सिंह दहाड़ रहे थे, कहीं बाघ चिल्ला रहे थे, कहीं भेड़िये आ रहे थे, कहीं हाथी जा रहे थे, कहीं हिरन चौकड़ियाँ भर रहे थे, कहीं मोर नृत्य कर रहे थे, कहीं सर्प बिलों की ओर जा रहे थे, कहीं रीछ जामुन के पेड़ पर चढ़ कर उनके फलों को खा रहे थे, कहीं भैंसे लड़ रहे थे, कहीं हाथी हथिनियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, कहीं चूहे दौड़ रहे थे, कहीं बिल्लियाँ बैठी म्याऊँ-म्याऊँ कर रहीं थीं। वृक्षों पर तोता मैना, बैया, कौआ, हंस आदि बैठे थे।

आश्रम के भीतर बहुत-सी यज्ञ-वेदियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सुगन्धित धूम को आकाश में फैलाते हुए अग्निदेव चमक रहे थे। भिन्न-भिन्न देवता और लोकपालों की पृथक्-पृथक् पीठें बनी हुई थीं। कल-कल निनादिनी भगवती अलकनन्दा का घोष

वेद-घोष से मिलकर बड़ा ही प्रिय मालूम पड़ता था। वहाँ भाँति-भाँति के ऋषि-महर्षि रह कर तपस्या कर रहे थे। कोई जटाधारी, कोई लटाधारी, कोई दूधाधारी, कोई ब्रह्मचारी, कोई फलहारी, कोई शाकाहारी, कोई संन्यासी, कोई वानप्रस्थी, कोई वाताहारी, कोई निराहारी। कोई पड़े रहते थे, कोई एक पैर से खड़े रहते थे। कोई नंगे रहते थे। कोई गीले वस्त्र ही पहिने रहते थे। कोई मौनी थे, कोई प्राणायाम-निरत थे।

भगवान् इन सब को देखते हुए महामुनि उपमन्यु के समीप पहुँचे। भगवान् को देखते ही मुनि शीघ्रता से पर्णकुटी से बाहर निकल आये भगवान् ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने भगवान् को हृदय से लगाया और उन्हें बड़े सत्कार पूर्वक यज्ञ-शाला के सम्मुख वाले चबूतरे पर ले गये। वहाँ भगवान् को सुंदर आसन पर बिठा कर उनकी विधिवत् पूजा की। अर्घ्य आदि से उनका यथोचित सत्कार करके बहुत से कन्द, मूल, फल तथा पुष्प उनको भेंट किये।

मुनि की पूजा को स्वीकार करके भगवान् ने उनके आश्रम की, मुनियों की, वृक्षों की, पशु-पक्षियों की, अग्नि की, तप की और मुनि के शिष्यों की कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर महामुनि उपमन्यु बोले—"हे वासुदेव! हे मधुसूदन! हे पुन्डरीकाक्ष! हे नारायण! आपका स्वागत है, मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आपका यहाँ पधारना किसी विशेष कारण से हुआ है, या हम सब को कृतार्थ करने के लिये आप इस घोर अरण्य में पधारे हैं?"

यह सुन कर भगवान् बोले—"मुनिवर! मैं पुत्र-प्राप्ति के लिये आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना के निमित्त यहाँ

आया हूँ। मैं ऐसे स्थान में रह कर तप करना चाहता हूँ, जो सिद्ध स्थान हो जहाँ तप करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो सके।"

यह सुनकर ऋषिप्रवर उपमन्यु बोले—"हे जगन्नाथ ! आपको तप की क्या आवश्यकता ? आप तो चराचर जगत के स्वामी

हैं। आपके संकल्प-मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती रहती है। फिर भी आप नर-नाट्य करना ही चाहते हैं, तो आप यहीं मेरे आश्रम पर रह कर तप करें। आपको पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी। यह सिद्ध भूमि है। यहाँ पर अनेकों सुर, असुर, गन्धव, राक्षसों ने शिव को आराधना करके सिद्धि प्राप्त की है।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"मुनिवर! मैं कुछ लोगों के नाम सुनना चाहता हूँ जिन्होंने इस स्थान पर सतीपति शंकर को सन्तुष्ट करके उनसे मनोवांछित फल प्राप्त किया हो। यदि आप उचित समझें तो ऐसे कुछ शिव-भक्तों के मुझे चरित्र सुनाइये; जिससे शिवजी के चरणों में मेरा अधिकाधिक अनुराग उत्पन्न हो।"

यह सुनकर महामुनि उपमन्यु बोले—"भगवन्! यहाँ तो असंख्यों शिव-भक्तों ने विश्वनाथ भगवान् शंकर को प्रसन्न करके असंम्भव वरों को प्राप्त किया है। उनमें से कुछ के नाम मैं आपको सुनाता हूँ, क्योंकि यही तो भगवान् शिव की क्रीड़ा-स्थली है, यहीं तो वे अपने श्वशुर गिरिराज को प्रसन्न करने के लिये अपनी पत्नी पार्वती के साथ विहार करते हैं।"

राक्षसराज हिरण्यकशिपु ने यहाँ दस हजार वर्ष तक तप करके शिवजी को प्रसन्न किया और उनसे बहुत दुष्प्राप्य दुर्लभ से वरदानों को प्राप्त किया।

दावानगर मन्दार ने यहीं शिव के वरदान से अतुल बल प्राप्त करके देवताओं के राजा इन्द्र से दस हजार वर्ष तक बड़े उत्साह से युद्ध किया और थका नहीं।

विद्युत्प्रभ दानवराज ने भी यहाँ शिवजी को प्रसन्न करके

उनसे त्रैलोक्य का राज्य माँगा था और शिवजी के वरदान से उसने एक लाख वर्ष तक तीनों लोकों का शासन किया।

शतमुख असुर ने अद्भुत शिवजी की सौ वर्षों तक घोर तपस्या करके योगबल, यहीं प्राप्त किया था। ऋतु नामक स्वायंभुव मनु ने शिव-सेवा के प्रभाव से सहस्र सुत प्राप्त किये थे। सो, आप तो एक सुत के लिये ही उनकी घोर आराधना करना चाहते हैं।

महामुनि याज्ञवल्क्य, पराशर-नन्दन भगवान् वेदव्यास यहीं पर शिवजी के प्रसाद से संसार में इतने यशस्वी और तेजस्वी हुए हैं। इन्द्र ने यहीं तप करके इन्द्रत्व पाया। बाल-खिल्यों ने यहीं पर इन्द्र से कुपित होकर शिवजी के वरदान से पक्षिराज गरुड़ को प्रकट कराया। अत्रि-पत्नी अनसूया ने भी यहीं देवाधिदेव शंकर को प्रसन्न किया था। महात्मा विकर्ण यहीं सिद्ध हुए। शाकल्य मुनि ने यहीं घोर तपस्या करके ग्रन्थकार होने का शिवजी से वरदान पाया। सावर्णि ऋषि ने भी कवित्व-शक्ति शंकर की कृपा से इसी स्थान में प्राप्त की। नारदजी ने भी यहीं शिवाराधना द्वारा गायनाचार्य की पदवी प्राप्त की। हे मधुसूदन, मैं कहाँ तक गिनाऊँ? असंख्यों प्राणी यहाँ आशुतोष भगवान् भोलानाथ की कृपा से सिद्ध हुए हैं। अनगिनती भक्तों ने यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों को प्राप्त किया है। शंकरजी औघड़ दानी हैं, उनके यहाँ किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। उनसे जो भी चाहो माँग लो। उनके यहाँ नाहीं का काम नहीं, भुक्ति-मुक्ति सभी देने को वे सदा तत्पर रहते हैं। देते समय कोई विचार नहीं, कोई भेद-भाव नहीं। उनकी प्रसन्नता होने पर कोई कार्य कठिन नहीं, कोई बात असम्भव नहीं। भगवन्! और की मैं क्या कहूँ? मैं स्वयं ही आपके सन्मुख प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ।

अत्यन्त दरिद्र विप्र बालक होकर—दरिद्रता के दुःख से दुखी होकर—"केवल दूध माँगने के लिये मैंने शिवजी की आराधना की। उसके फलस्वरूप भगवान् शंकर ने मुझे सब कुछ दे डाला।"

वह सुनकर भगवान् ने पूछा—"मुनिवर! आपने दूध के निमित्त शिवजी की क्यों अराधना की? आप पहिले कैसे दरिद्र थे? इन सब बातों को आप मुझे बतावें।" सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसे प्रश्न करने पर महामुनि उपमन्यु अपना पूर्व चरित्र कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हिरण्यकशिपु ने प्रभो! यहीं वर दुरलभ पाये।
विद्युत्प्रभ मन्दार बली बनि देव हराये॥
याज्ञवल्क्य श्री व्यास और शाकल्य महामुनि।
ग्रंथकार बड़ भये नाम शिव रटि हरगुन सुनि॥
और कहाँ तक अब कहूँ, हौं दरिद्रता तैं दुखी।
मातु वचन तें शिव भजे, भयो शंभुवर तैं सुखी॥

दरिद्रता से दुखी उपमन्यु मुनि

[१८६]

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥*

(श्री भग० १२ स्क० १० अ० ३२, श्लो०)

छप्पय

मुनि तें पूछें कृष्ण—'कहो सब कथा विप्रवर ।
व्याघ्रपाद सुत कहें—'सुरभि नहिँ रही मोर घर ॥
एक दिना कहुँ पियो दूध घर पै नहिँ होई ।
माँग्यौ माँ तें आइ सुनत जननी मम रोई ॥
मैंने हठ जब करी बहु, चून घोरि जल महँ दयो ।
पीयो परि पय स्वाद नहिँ, दुःख मोर मन अति भयो ॥

संसार में दो कष्ट बहुत बड़े बताये हैं—एक तो वृद्धावस्था का कष्ट और दूसरा निर्धनता दरिद्रता का कष्ट । इसमें दरिद्रता का कष्ट सबसे बढ़कर है । जिसके पास धन नहीं, वह अपनी

---

* जो त्रिगुणात्मक होकर भी सम्पूर्ण गुणों के नियन्ता हैं, जो केवल, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप जगत् के गुरु हैं, उन भगवान् भूतनाथ शंकर को नमस्कार है ।

किसी इच्छा को पूरी नहीं कर सकता। नित्य ही भूख उसे सताती रहती है। बच्चे भूख के कारण रोते हैं, स्त्री उदास रहती है, बन्धुबान्धव बोलते नहीं, जाति वाले त्याग देते हैं। सम्बन्धी उनसे मुंह छिपाते हैं, जिनके द्वार पर जाते हैं वे ही डर जाते हैं, सीधे बात नहीं करते; चाहते हैं, किसी प्रकार यह चला जाय। धनहीन का संसार पृथक् होता है, उसे सभी दिशाएँ रोती हुई सी दिखाई देती हैं, संसार उसे काटने को दौड़ता है। सब उसके लिये कठोर हो जाते हैं। वह सब की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखता है, किन्तु उसे कोई भी नहीं देखता। दरिद्रों को भूख भी बहुत लगती है। घर में अन्न भरा रहने पर वह भी तृप्त होकर भाग जाती है। धनवानों को प्रायः सदा अजीर्ण अपच रहता है, उनकी अग्नि मन्द ही बनी रहती है। दरिद्रता में कच्चा-पक्का, सड़ा-गला, बासी-कूसी सभी जीर्ण हो जाता है, पत्थर भी पच जाता है। उसी दरिद्रता को यदि कोई स्वेच्छा से स्वीकार कर ले, तो धन से हीन होने पर भी वह मन से प्रसन्न रहता है। द्रव्य से दरिद्र होने पर भी चित्त से वह धनवान् बना रहता है। वास्तव में तो मन की दरिद्रता को ही दरिद्रता कहा है, धन की दरिद्रता तो कोई महत्व नहीं रखती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने महर्षि उपमन्यु से उनके पूर्व चरित्र का प्रश्न किया, तो महर्षि बड़े उल्लास के साथ अपने बाल्य-काल की कथा कहने लगे।"

मुनि उपमन्यु बोले—'वासुदेव! मेरे पूजनीय पिता का नाम व्याघ्रपाद था। वे बड़े ही ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी थे; किन्तु उनके पास धन नहीं था। इससे वे अन्य मुनियों की भाँति गौएँ नहीं रख सके। मुनियों के निवास से दूर हमारी पर्णकुटी थी। हम दो भाई थे। बड़ा मैं और छोटे धौम्य। हम लोग जिस किसी

प्रकार वन के कड़वे कसैले कच्चे फलों को खाकर अपने दिन बिताते थे।

एक बार प्रभो! मैं अपने पिता के साथ एक यज्ञ में गया। वहाँ मुझे सुरभि गौ का सुन्दर स्वादिष्ट अधऔटा मिश्री मिला हुआ दूध पीने को मिला। वासुदेव! इससे पहिले मैंने कभी दूध नहीं पिया था। उस दुग्ध के स्वाद को अब मैं जनार्दन! आपसे क्या कहूँ? मुझे ऐसा लगा, अमृत इसी का नाम है। मेरी उस अनुपम पेय पदार्थ से तृप्ति ही नहीं हुई। यज्ञ समाप्त होने पर हम घर आये। बालक तो था ही, मैं वहाँ की बातें कुछ दिनों में भूल गया।

एक दिन मैं अपनी कुटी से दूर खेलने चला गया। वहाँ कुछ ऋषिकुमार एक गौ को दुह रहे थे। गौ दुह जाने पर उन्होंने मुझे भी थोड़ा दूध दिया। उस दूध को पीकर मुझे यज्ञ के दूध की याद आ गई। मैं दौड़ा-दौड़ा अपनी माँ के पास गया और बोला—माँ! माँ मुझे तू खाने के लिये दूध और भात दे। यह सुनते ही मेरी माँ की आँखों में आँसू भर आये। उसने मुझे गोद में बिठा कर, मेरा माथा सूँघकर, मुँह चूमकर बड़े स्नेह से कहा—"बेटा, मेरे पास दूध नहीं है?"

मैं तो बालक ही ठहरा। बच्चे माता-पिता की दरिद्रता को समझ ही नहीं सकते। उनमें उतनी विचार-शक्ति हो नहीं होती, आकर माता-पिता से माँगने लगते हैं। न देने पर रोते हैं, हठ करते हैं। 'बालानां रोदनं बलम्'—बच्चों का बल रोना ही है। माता-पिता उन्हें किसी प्रकार बातों में लगाकर फुसला देते हैं। इधर-उधर की बातें होने पर भूल जाते हैं। उनके हृदय में छल-कपट तो रहता नहीं।

मुनि कह रहे थे—"भगवन्! जब मेरी माँ ने आँखों में आँसू

भर कर दूध के लिये मना किया, तो मैं मचल गया। बार-बार दूध देने को आग्रह करने लगा। बाल-हठ को हटाने की युक्तियाँ माताएं ही जानती हैं। मेरी माँ ने जब मुझे दूध के लिये बहुत हठ करते देखा, तो उन्होंने जल में आटा घोलकर मुझसे कहा—"अच्छा ले, यह दूध पी ले।"

अपनी माँ के दूध देने पर मैं बड़े ही उल्लास के साथ उठा और उसे पीने लगा, किन्तु मधुसूदन, वह दूध तो था ही नहीं। यदि मैंने पहिले कभी दूध न पिया होता, तो उसे दूध समझ कर पी जाता; परन्तु मेरी जिह्वा तो दूध का स्वाद ले चुकी थी। मुझे वह आटा-मिश्रित जल अच्छा नहीं लगा। उसे पीने को मेरी रुचि नहीं हुई। मैंने उसे बिना पिये ही छोड़ दिया और अपनी माता से बोला—"अम्मा! यह दूध तो है नहीं।"

इतना सुनते ही मेरी माँ के धैर्य्य का बाँध टूट गया। बहुत रोकने पर भी वह अपने को न रोक सकी, फूट-फूट कर रोने लगी। उसने मुझे छाती से लिपटा लिया और अपने आँसुओं से मेरी सम्पूर्ण शिखा को भिगो दिया।

मैं यद्यपि बालक था, किन्तु माँ की अन्तर्वेदना को समझ गया और बड़े स्नेह से अपनी माँ के मुँह में मुँह मिलाकर पूछने लगा—"अम्मा! तू मुझे सच-सच बता दे। हमारे दूध क्यों नहीं होता? अन्य ऋषियों के यहाँ तो बहुत दूध होता है? यह तैंने मुझे क्या दिया था?"

मेरी माँ ने रोते-रोते कहा—"बेटा! यह यथार्थ में दूध नहीं था, यह तो पानी में घोला हुआ आटा था। बेटा! जिसके घर गौएँ हैं, उन्होंने पूर्व जन्म शिवजी की आराधना की है। हम ऐसे अभागे हैं कि हम भगवान् शिव की कृपा प्रसाद से वञ्चित हैं। हमने भक्तिपूर्वक उनकी उपासना नहीं की है, तभी तो दरिद्रता

हमारे यहाँ रहने लगी है। बेटा! आज मुझे अपनी निर्धनता पर दुःख हो रहा है। हाय! मैं अपने बच्चे को दूध भी नहीं दे सकती।"

मैंने कहा—"माँ तुम दुखी मत हो। दूध न मिला तो न सही। अब तुम ऐसा उपाय बताओ, जिससे हमारे घर में भी यथेष्ठ दूध हो। तुम जो उपाय बताओगी, वही मैं करूँगा। वे शिवजी कौन हैं, जिनकी उपासना करने से दूध मिलता है? तुम इतनी दुखी मत हो। अब मैं तुमसे दूध न मागूँगा, शिवजी की उपासना करके उन्हें प्रसन्न करके उनसे ही दूध मागूँगा!"

मेरी माँ ने कहा—"बेटा! मुझे अपनी दरिद्रावस्था पर दुःख हो रहा हैं। अपने लिये मुझे कुछ दुःख नहीं। जो भी भगवान् भेज देते हैं। उसी पर सन्तोष कर लेती हूँ, किन्तु तुम मेरे हृदय के टुकड़े हो, तुम्हें माँगने पर मैं दूध नहीं दे सकती इससे मुझे दुःख हो रहा है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! गृहस्थियों के लिये दरिद्रता का ही दुःख सबसे बड़ा है। विशेष कर इन ब्राह्मणों के पास दरिद्रता बहुत रहती है, इसका क्या कारण?"

सूतजी यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"महाराज, इन ब्राह्मणों की आप कुछ न पूछिए। ये लोग ऐसा दुष्कर कर्म करते हैं, कि सभी दाँतों तले उँगली दबा जाते हैं। इन्होंने दरिद्रता को अपने आप ग्रहण कर लिया है।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी जान बूझकर अपने आप दरिद्रता को कौन ग्रहण कर सकता है? यह तो आप अद्भुत बात सुना रहे हैं। यह दरिद्रता किसकी लड़की है? इसका विवाह किसके साथ हुआ है? ब्राह्मणों ने उसे ग्रहण क्यों किया? इन सब बातों का उत्तर देकर आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, यह कथा तो बड़ी लम्बी-चौड़ी है, किन्तु मैं अत्यन्त ही संक्षेप में आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे सुनें।"

जब दुर्वासा मुनि के शाप से लक्ष्मी विलीन हो गई, तो देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र को मथा। कोई भी शुभ कामकरो, उसमें पहिले विघ्न आते हैं; जो विघ्नों को कुछ भी न समझकर उत्साहपूर्वक परिश्रम करते रहते हैं, तो पीछे से उन्हें अमृत की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार समुद्र मथा तो गया था अमृत के लिये, किन्तु पहिले ही पहिले निकला उसमें से विष। शिवजी उसे भगवान् का नाम लेकर पी गये। अब दूसरी बार फिर मथा तो दरिद्रता देवी निकलीं। बडी विरूप, काली कलूटी, दुबली पतली, देखने में भयानक। यद्यपि बड़े बाप की बेटी थी, समुद्रतनया थी, किन्तु क्वारी कन्या का कुरूप होना उसके विवाह में बड़ा विघ्न है। विवाह हो जाने पर चाहे वह अन्धी ही हो जाय। सम्पूर्ण शरीर पर माता के घाव क्यों न हो जायँ फिर तो निभाना ही पड़ता है। बड़ों की क्वारी कन्या कुरूप हो, तो वे बड़े धर्म-संकट में पड़ जाते हैं। साधारण आदमी के साथ विवाह करने में अपना अपमान है। बराबर वाले कुरूप कन्या को ग्रहण नहीं करते, इसीलिये दरिद्रता के साथ किसी ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया। तब उसने देवताओं से पूछा—"मुझे कहीं रहने का ठौर ठिकाना तो बता दो, कहाँ पर मैं रहूँ ?"

यह सुनकर देवता बोले—"देखो, तुम जहाँ लड़ाई झगड़ा हो वहाँ रहा करो। जो लोग शुद्धता से न रहें उनके यहाँ रहो, जो दोनों सन्ध्याओं में सोवें, जो अखाद्य पदार्थ खायँ, जो अशुद्ध वस्तुओं को जैसे नख, बाल, हड्डी, मूत्र, विष्ठा, राख, कूड़ा कर-

कट आदि वस्तुओं को घर में पड़ी रहने दें, उन्हें झाड़ बुहारें नहीं उनके यहाँ तुम रहो।" बिचारी दरिद्रता अपना सा मुँह लेकर चली गई।

फिर निकलीं लक्ष्मीजी। वे इतनी सुन्दरी थीं कि सभी का मन उन्हें देखकर क्षुभित हो उठा। सभी उनसे विवाह करने को अत्यन्त उत्सुक दिखाई देते थे। केवल एक बार ये हमारी ओर देख भर लें, किन्तु वे किसी की ओर ताकती भी नहीं थीं। विष्णु भगवान् ने उन्हें अपने हृदय का हार बना लिया। अब तो वे जगन्माता हो गईं।

जो अच्छे स्वभाव वाली होती हैं, वे बड़े घर में विवाह जाने पर भी अपनी बहिनों की चिन्ता रखती हैं। लक्ष्मीजी तो अब जगत् के स्वामी की अर्धाङ्गिनी बन चुकी थीं। उन्होंने एक दिन अपने पति भगवान् विष्णु से कहा—"प्राणनाथ! मेरी एक प्रार्थना है।"

भगवान् बोले—"कहो, क्या बात है?"

लक्ष्मीजी ने कहा—"देखिये, मेरी एक बड़ी बहिन है—दरिद्रता देवी। उसका तो विवाह हुआ नहीं, और आपने मुझसे विवाह कर लिया। बड़े भाई बहिन के अविवाहित रहते, जो छोटे भाई बहिन विवाह कर लेते हैं, उन्हें परिवेतृत्व का बड़ा भारी दोष लगता है। इसीलिये स्वामिन्! मुझे इस दोष से छुड़ाइये, मेरी बहिन की कहीं विधि बैठाइये, उसे घर द्वार वाली बनाइये। आप सर्व समर्थ हैं। उसके लिये कोई मलूक सा, सुन्दर सा, दूलहा खोज दीजिये। जैसे हो तैसे मेरी बड़ी बहिन का गठबन्धन करा दीजिये।"

भगवान् बोले—"तुम्हारी बहिन है भी तो बड़ी कुरूपा। सभी तो उससे घृणा करते हैं। अब मैं किससे कहूँ? फिर एक

बात और भी है। वह है मेरी बड़ी साली। मैंने बलपूर्वक समझा बुझा कर किसी के पल्ले से उसका पल्ला बाँध भी दिया, तो सम्बन्ध में वह मुझसे बड़ा साढ़ू हो जायगा। उस कुरूपा को कोई भला आदमी स्वेच्छा से ग्रहण तो करेगा नहीं।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"अब, महाराज! कैसी भी है, है तो बहिन ही। हाथ की रेखा तो मिटती ही नहीं। कहीं भी हो, उसकी साँठ गाँठ लगा दीजिये।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, प्रयत्न करूँगा। यह कह कर उन्होंने एक तपस्वो ब्राह्मण मुनि को बुलाया और उनसे बोले—"मुनिवर! यह मेरी साली है। आप इसके साथ विवाह कर लें, तो आप सम्बन्ध में मुझसे बड़े हो जायँगे। मेरे भी ज्येष्ठ साढ़ू बन जायँगे।"

मुनि बोले—"भगवन्! विवाह आदि की तो मुझे इच्छा है नहीं, किन्तु आपकी आज्ञा तो मुझे सर्वथा शिरोधार्य्य है। आपकी आज्ञा है तो मैं विवाह कर लूंगा।"

भगवान् को तो यही अभीष्ट ही था। मुनि के साथ उसका गठ-बन्धन कर दिया। मुनि इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट-से दिखाई नहीं देते थे, किन्तु भगवान् की इच्छा में अपनी इच्छा मिला देना-यही तो उत्तम भक्तों का लक्षण है। अपनी नई वहू को लेकर मुनिवर आश्रम की ओर चले।

मुनि के आश्रम में चारों ओर सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे। सम्पूर्ण आश्रम झाड़ा-बुहारा, लिपा-पुता, सुन्दर, स्वच्छ पड़ा था। चारों ओर वेदों की ध्वनि हो रही थी। यज्ञ-कुन्डों में विविध प्रकार की अग्नियाँ प्रज्वलित हो रहीं थीं। इस प्रकार ब्राह्मीश्री से युक्त आश्रम को देख कर दरिद्रता डर गई। जहाँ ब्राह्मीश्री विराजमान है वहाँ दरिद्रता रह ही कैसे सकती है।

उसने अपने पति मुनिवर से कहा—"स्वामिन्! मैं तो इस आश्रम में रहने की नहीं। आपने विधिवत् मेरे साथ विवाह किया है। आप तुरन्त मुझे यहाँ से दूर ले चलिये।"

मुनि ने सोचा—"यह अच्छी इल्लत भगवान् ने मेरे सिर बाँध दी। अब जाने यह चन्डी मुझे कहाँ-कहाँ घुमावेगी? इस काली मूँड वाली के पीछे मुझे भी न जाने क्या क्या करना पड़ेगा। अब तो जैसे तैसे हो निभाना ही पड़ेगा।"

यह सोचकर मुनि ने कहा—"अच्छा बहूरानी, चलो, कहाँ चलोगी?" यह कह कर मुनि उसके साथ चल दिये। वह आगे-आगे थी, मुनि उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। सम्भवतया ज्येष्ठ वैशाख का महीना था, कड़ाके की धूप पड़ रही थी। दोनों ही थक गये। एक पीपल की छाया में बैठ गये।

मुनि ने सोचा—अच्छा विवाह किया। जप, तप, अग्निहोत्र सब छूटा। इसका जप, तप, यज्ञ, याग, वेदाध्ययन में मन ही नहीं लगता। इसके पीछे मैं इन सब को छोड़ नहीं सकता। या तो मुझे यज्ञादिक छोड़कर इसी का क्रीड़ामृग बनना पड़ेगा या इसे त्याग कर उनका फिर से ग्रहण करना पड़ेगा।

मुनि ने सोचा—भगवान् ने विवाह करने के लिये ही कहा था। उनकी आज्ञा का पालन हो गया। अब इसके पीछे कहाँ-कहाँ फिरता रहूँ? यह सोच कर मुनि किसी बहाने से खिसक गये। दरिद्रता ने जब देखा कि मेरा दुलहा तो मुझे यहाँ जङ्गल में छोड़कर भाग गया, तो वह बड़े जोरों से रोने लगी। शनीचर का दिन था, अपनी बहिन का रुदन सुनकर लक्ष्मीजी ने भगवान् से कहा—"प्राणनाथ! आपने मेरी बहिन का विवाह कैसे आदमी के साथ कर दिया? देखिये, वह उसे छोड़

कर चला गया। वह बेचारी पीपल के पेड़ के नीचे बैठी रो रही है।"

भगवान् ने कुछ चिढ़ कर कहा—"देखो जी, बहूरानी! सुनो मेरी सच्ची बात। मैंने जीवन भर का तो उसका ठेका लिया नहीं है। तुम ने विवाह कराने को कहा था, विवाह करा दिया तुम्हारा परवेत्तापने का दोष दूर हो गया। अब बहिन का अधिक स्नेह है, तो तुम ही उससे बातें करो। मैं तो अब अपने कर्तव्य से मुक्त हुआ।"

लक्ष्मीजो ने कहा—"ये पुरुष सब एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। अपना प्रयोजन हो, तों पचास मीठी-मीठी चिक्नी चुपड़ी बातें बनावेंगे। चलो, मुझे मेरी बहिन के पास ले तो चलो।"

भगवान् क्या करते? पत्नी ठहरी, लेकर गये। दोनों बहिनें गले मिल कर खूब रोईं। तब भगवान् ने कहा—"अब रोने धोने से काम न चलेगा। जब तक ब्राह्मण का यज्ञ, याग, वेद, देव, गौ, अतिथि, धर्म और मुझमें प्रेम है, तब तक वह तुम्हें पास भी न आने देगा। वह मना न करेगा, किन्तु तुम वहाँ उसकी ब्राह्मीश्री के कारण जा न सकोगी। इस पीपल के पेड़ में ही रहो।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी ने कहा—"हाँ, बहिन! तुम इसी अश्वत्थ के पेड़ में रहो। प्रत्येक शनिवार को मैं तुम्हारे समीप आज से आया करूंगी। उस दिन जो पीपल का आलिङ्गन करेंगे, उन पर मैं प्रसन्न होऊँगी।"

इस पर दरिद्रता बोली—"तब बहिन! लोग शनिवार को ही पीपल की पूजा करेंगे। अन्य दिनों में तो कोई पूजा ही न करेगा।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी-बोलीं—"नहीं, जो नित्य पूजा करेंगे उन पर भी मैं तुम्हारे सम्बन्ध से प्रसन्न होऊँगी। अन्य दिनों
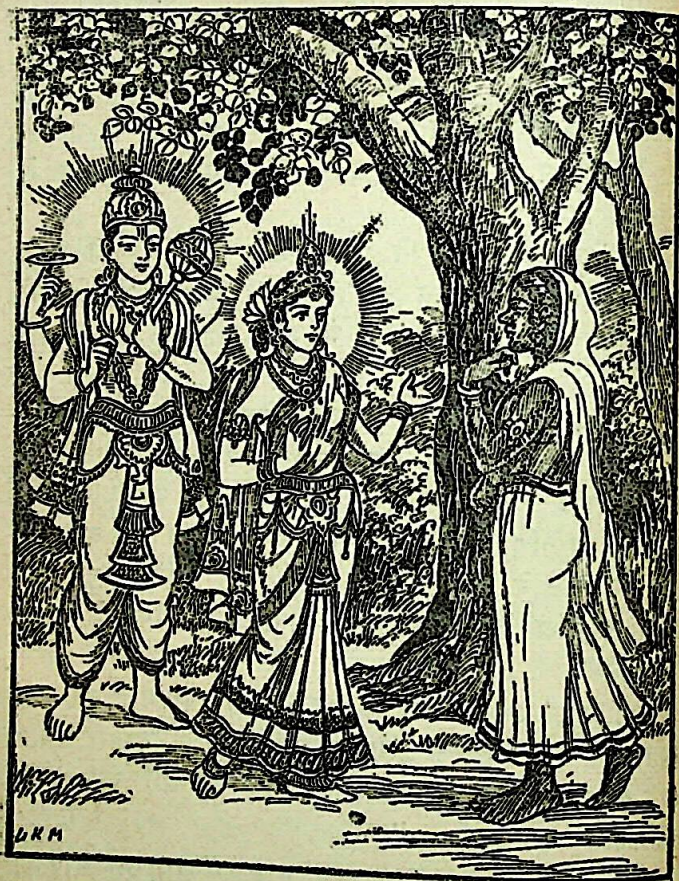
पीपल का आलिङ्गन न करना चाहिये। आलिङ्गन केवल शनिवार को ही करना चाहिये।"

इस प्रकार दोनों बहिनों में समझौता हो गया। उस दिन से प्रत्येक शनिवार को लक्ष्मीजी पीपल के पेड़ में आती हैं। उस दिन दरिद्रता स्नेह वश वहाँ से हट जाती हैं और बहिन को बैठा देती हैं। इसलिये शनिवार को पीपल के वृक्ष का विधि-विधानपूर्वक पूजन करके आलिङ्गन करना चाहिए। अन्य दिनों में केवल पूजन ही करना चाहिये, आलिंगन नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्राह्मणों ने दरिद्रता को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु ब्राह्मी तेज के कारण दरिद्रता उनके पास फटकने नहीं पाती। जो ब्राह्मण ब्राह्मीश्री से हीन हैं उनके ऊपर तो दरिद्रता बलपूर्वक सवार हो ही जाती है। जो भगवद् भक्त नहीं, शिव की आराधना में तत्पर नहीं, कथा-कीर्तन से विमुख हैं—ऐसे ब्राह्मणों के यहाँ अपना अधिकार समझ कर दरिद्रता चली जाती है। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में दरिद्रता का चरित्र आपको सुनाया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"विदुरजी! यह आपने अद्भुत चरित्र सुनाया। हाँ तो महामुनि उपमन्यु की माता ने उन्हें दूध प्राप्त करने का कौन सा उपाय बताया और मुनि ने क्या किया? इस सम्पूर्ण कथा को आप हमें सुनावें। शिव-भक्त महामुनि उपमन्यु के चरित्र सुनने के लिये हमारे मन में अत्यन्त कुतूहल हो रहा है।"

शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी बोले—"मुनिवर! मैं शिवध्यानतत्पर मुनिवर उपमन्यु का उत्तर चरित्र आपको सुनाऊँगा। तब तक मैं थोड़ा पंचाक्षरी मन्त्र का जप कर लूँ। आप भी तब तक शिव-शिव रटिये।"

शिव-शिव रटें, तो संकट कटें।

छप्पय

अम्मा ! यह पय नाहिँ मोहिँ तू च्यौं बहकावे ।
अमृतोपम अति श्वेत मधुर पय च्यौं न पिआवे ॥
मम हठ निरख्यो मातु नयन तेँ अश्रु बहावे ।
बार-बार पुचकारि हृदय तेँ मोइ लगावे ॥
मैं पूछ्यो—'घर सुरभि पय, होइ न च्यौं हे जननि कह ।
बोली—बेटा ! विष्णु की, साली की करतूत यह ॥

उपमन्यु मुनि को शिवजी का वरदान

[१८७]

त्वं कर्मणां मंगल मंगलानाम्,
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमंगलानां च तमिस्रमुल्वणम्,
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० ६ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

पुनि पूछ्यो हे मातु! भगै यह कुलटा कैसे?
सुनि माँ बोली–वत्स! बताऊँ जावै जैसे?
आशुतोष भगवान् शम्भु कूँ जो आराधें।
तिनके दुर्लभ काज कपर्दी छिन महँ साधें॥
मधुसूदन! मम मातु ने, महादेव महिमा कही।
उपजी सुनि शिव भक्ति हिय, शरन चरन हर की गही॥

---

* ब्रह्माजी शिवजी की स्तुति करते हैं—"हे मङ्गलमय महादेव! आप ही मंगल कर्म करने वाले पुरुषों को स्वर्ग अथवा मुक्ति प्रदान करते हैं और पाप कर्म करने वाले को भयङ्कर नरकादि गति भी आप ही देते हैं। फिर कहीं-कहीं इस नियम के विपरीत होना भी देखा जाता है। इसे आपही जानें, ऐसा क्यों होता है।"

जो विपदा हमें भगवत् स्मृति करावे—ऐसी विपदा हे भगवन् ! सब किसी को देना। जो दरिद्रता शिव-चरणों में अनुराग करावे, हे आशुतोष भोलेनाथ ! ऐसी दरिद्रता जिन्हें प्राप्त है, उनकी चरणों की धूलि हमें प्राप्त हो। जो सुख हमें शिव से विमुख करे, ऐसा सुख शत्रुओं को भी प्राप्त न हो। आज उपमन्यु महर्षि दरिद्रता के ही कारण शिव-भक्तों में सबसे अधिक सम्माननीय बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो जब महामुनि उपमन्यु की माता रोने लगी, तब मातृ-दुःख से दुखी बालक उपमन्यु कहने लगे—'माँ ! तुम मुझे उन भगवान् शङ्कर का स्वरूप बता दो, उनकी उपासना की प्रक्रिया समझा दो। जननि ! मैं उन त्रिशूलपाणि विश्वनाथ को तपस्या द्वारा प्रसन्न करूँगा और अब उन्हीं से दूध माँगूँगा।'

अपने आश्रम पर आये हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को स्वयं भगवान् उपमन्यु सुना रहे हैं—"प्रभो ! जब मैंने अपनी माता से शिव-स्वरूप समझने का आग्रह किया, तो मेरी माँ के नेत्र श्रावण-भादों की वर्षा के समान बहने लगे। उसका कण्ठ गद्गद हो गया। मुझ बालक की भोली-भाली बातें सुनकर हृदय भर आया। उन्होंने मुझे कसकर अपनी छाती से चिपटा लिया।

"वासुदेव ! माता की गोदी कितनी सुखद है, उसका स्पर्श कितना प्रेममय है; किन्तु मुझे तो दूसरी ही धुन सवार थी। मैं बार-बार माता से आग्रह करने लगा। तब मेरी माँ रोते-रोते दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर कहने लगी—"बेटा ! शिवजी दुराधर्ष और दुर्विज्ञेय हैं। उनका यथार्थ रूप ऋषि, मुनि, देवता, यक्ष, गन्धर्व जान नहीं सकते, शास्त्र उनका वर्णन नहीं कर सकते। वे सबसे श्रेष्ठ और सबके जनक हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही

विष्णु हैं और वे ही रुद्ररूप धारण करते हैं। उनसे परे कोई देव नहीं। वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय के स्वामी हैं। विश्व उनकी क्रीड़ास्थली है; उसमें वे सर्वत्र व्याप्त हैं, वे भक्तवत्सल हैं, अशरणशरण हैं। वे शरण में आये हुए के सभी दुःखों को नाश करने वाले हैं। उनकी कोई किसी भाव से शरण में क्यों न जाय, वे सभी को ईप्सित वर देते हैं। उनके यहाँ भेद भाव नहीं। देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, बुरा, भला, सदाचरी, कदाचारी कैसा भी कोई क्यों न हो, सभी के मनोरथों को वे पूरा करते हैं।

उनका एक रूप भी नहीं, या तो वे अरूप हैं या सभी उन्हीं के रूप हैं; फिर भी वे विचित्र वेष बनाकर बल पर बैठकर बेताल भूतों के साथ वनों में विहार करते हैं, श्मशानों में नाचते हैं और अपना उन्मत्त का-सा रूप दर्शाते हैं। वे बड़े जोरों से अट्टहास करते हैं। उनकी हँसी अत्यन्त ही मधुर है। चक्र, शूल, गदा, मूसल, खड्ग आदि आयुधों को भी धारण कर लेते हैं। मेखला, कुण्डल, यज्ञोपवीत बाजूबन्द सब उनके सर्पों के ही होते हैं। सिर से भी सर्प लिपटे हैं, कानों में भी सर्पों के कुण्डल हैं, गले में भी सर्प पड़ा है। यज्ञोपवीत भी सर्पों का ही पहिने हैं। कोई इधर से सर्र से जाता है, कोई उधर से फुफकार मारता है। वे हँस जाते हैं और उनके फणों पर अपने करकमल को रखकर कृपा करते हैं। जिन सर्पों से सभी भयभीत होते हैं, वे निर्भय होकर उनकी शरण में विहार करने हैं। व्याघ्र-चर्म ओढ़ते हैं, भस्म रमाते हैं, जटा धारण करते हैं, मुण्डों की माला पहिनते हैं, कपाल हाथ में रखते हैं। यह उनका रूप अज्ञानियों को मोह में डालने वाला है। ज्ञानी तो उनके उसी सत्य रूप को समझ कर उपासना करते हैं। बेटा, तुम उनके निमित्त जो भी जप, तप, पूजन करोगे उसे वे स्वतः समझ लेंगे और समझकर तुम्हें इष्ट

वस्तु प्रदान करेंगे। उनसे कोई बात छिपी नहीं। वे घट-घट की जानने वाले हैं। सभी के अन्तःकरणों में वे सदा अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं। वत्स! यदि तुमने उनकी शरण ले ली, तो तुम्हारे समस्त दुःख दूर हो जायँगे, फिर तुम्हें किसी भी वस्तु की कमी न रहेगी।"

महामुनि उपमन्यु कहते हैं—"हे क्लेशनाशन केशव अपनी माता के ये वचन सुनकर मेरी भगवान् सदाशिव के चरणारविन्दों में प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई। उसी दिन से मैं आकर शिवाराधन में तत्पर हो गया। हे वासुदेव! मैं एक सहस्र वर्षों तक एक अँगूठे पर खड़ा रह कर शिवजी की आराधना करता रहा।"

"एक दिन मैं देखता हूँ कि पर्वत के समान सफेद ऐरावत हाथी पर चढ़े हुए देवताओं के स्वामी इन्द्र मेरी ओर आ रहे हैं। उनके साथ सैकड़ों देवता हैं, बहुत से ऋषि-मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे हैं। स्वर्गीय अप्सरायें अपने हावभाव कटाक्षों द्वारा उन्हें प्रसन्न करती हुई उनकी परिचर्या में लगी हैं। उनके माथे का मणिमय मुकुट सूर्य की किरणों के लगने से दमदमा रहा था। विविध प्रकार के आभूषणों से वे सुसज्जित थे, अनुपम-रूप लावण्य-युक्त स्वर्गीय अप्सरायें उनके ऊपर चवँर डुला रही थीं; जिसमें से सदा अमृत टपकता रहता है ऐसे मोतियों का झालरदार सफेद छत्र ऊपर लगा हुआ था। मेरे सम्मुख आकर वे खड़े हो गये और मुझे सम्बोधन करके बोले—'मुनिवर! मैं समस्त देवताओं का तीनों लोकों का पति हूँ। यज्ञों में मेरी ही उपासना की जाती है। मैं ही त्रैलोक्य का अधीश्वर हूँ। मैं ही सबको वर देता हूँ, तुम्हारे ऊपर मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारी तपस्या से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो भी चाहो

वरदान माँग सकते हो। मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा।"

"देवराज इन्द्र के ऐसे वचन सुनकर मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। मैं देवराज से दृढ़ता के स्वर में बोला—देवेन्द्र! यदि आप त्रैलोक्य के स्वामी हैं, तो रहे आवें। मुझे आपसे कोई प्रयोजन नहीं। मैंने तो भगवान् भुवनेश्वर भूतनाथ भवानीपति की शरण ली है। मेरे वरदाता तो वे ही हो सकते हैं, उनके अतिरिक्त मैं किसी से भी वरदान नहीं माँग सकता। वे मुझे जो भी दे दें वही सहर्ष स्वीकार है। वे यदि मुझे पशु पक्षी, शूकर, कूकर की योनि भी दें, तो वह भी मैं ग्रहण कर लूँगा। दूसरा कोई मुझे स्वर्ग के सिंहासन पर ही क्यों न बिठाना चाहे, तो भी मैं नहीं बैठूँगा। मेरे सर्वस्व तो शिव हैं। मेरे इष्ट तो पार्वतीपति हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह और निग्रह करने में सदाशिव ही समर्थ हैं, दूसरे के सम्मुख मैं हाथ नहीं फैला सकता। आप चाहें तो पधार सकते हैं, चाहें विराज सकते हैं। मुझे आपसे कोई वरदान नहीं माँगना है।"

मेरे वचन सुनकर हंसते हुए देवेन्द्र बोले—"अरे, तुम क्या शिव-शिव कर रहे हो? वर देने वाले देवता होते हैं और मैं समस्त देवों का इन्द्र हूँ, अधीश्वर हूँ। मुझसे बढ़कर कौन है? जिस शिव के तुम इतने गुण गा रहे हो उसके होने में क्या प्रणाम है? तुमने उसे देखा है?"

उपमन्यु मुनि कहते हैं—"वासुदेव! देवेन्द्र की ये बातें सुन कर मुझे कुछ रोष-सा आ गया, मैंने कहा—"हे अमराधिप! शिवजी इन चर्म चक्षुओं से बाह्य दृष्टि वाले पुरुषों को दिखाई नहीं देते, उनके अस्तित्व में वेद ही प्रमाण है। वेदों में स्थान-स्थान पर उन्हीं त्र्यंबक महेश्वर की महिमा गाई गई है। हे

सहस्राक्ष ! अनुमान भी प्रमाण है। जब यह सृष्टि है, तो किसी ने इसे उत्पन्न किया होगा, शिव के अतिरिक्त उत्पन्न करने की शक्ति किसमें है ? वे ही उत्पन्न करते हैं, वे ही संहार करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने शिवाराधन करके सिद्धि प्राप्त की है, अतः उनके अस्तित्व में आप्त ही प्रमाण है। आप देवताओं के इन्द्र शिवजी के ही कृपा प्रसाद से हुए हैं। वे देवाधिदेव महादेव हैं। आप तो उन्हीं के बनाये हुए इन्द्र हैं। उन्हीं की आज्ञा से आपका इन्द्र पद पर अभिषेक हुआ था। आप वर देने में समर्थ हैं, फिर भी मैं वरदान तो सबके वरेण्य श्री शिव से ही मागूँगा।"

उपमन्यु मुनि कहते हैं—"हे वृष्णिवंशावतंस ! हे कैटभारे ! जब मैंने यह कहा, तब तो एक ऐसी अद्‌भुत घटना हुई, कि मैं हर्ष और विस्मय के बीच में पड़कर कुछ काल के लिये किंकर्तव्यविमूढ़-सा बन गया। मैंने देखा, कि वह ऐरावत तो नन्दीश्वर के रूप में परिणत हो गया। दुग्ध के फेन के सदृश, शारदीय शशि के सदृश, धुले हुए शुभ्र पट सदृश, बगुला के पङ्खों सदृश, कुन्द और आक के पुष्प के सदृश उसका रंग शुभ्र हो गया था। उसका ऊँचा ककुम हिल रहा था, पीली-पीली आँखें चमक रही थीं, सुमेरु के शिखर के समान वह ऊँचा था। उसके दोनों सींग सुवर्ण से मढ़े थे, खुरों में चाँदी लगी थी। उसके दोनों पुट्ठे मोटे थे, वह अपनी पूँछ को हिला रहा था। उसके ऊपर सुवर्ण के के काम की झूल पड़ी थी। उस पर दिव्य सिंहासन रखा था। भगवान् शङ्कर उसके ऊपर भगवती पार्वती के साथ विराजमान थे। उनके एक हाथ में त्रिशूल था, दूसरे से डमरू बजा रहे थे, माथे पर चन्द्रमा दमक रहा था, अंग में भभूत रमी थी। सर्प फुफकार रहे थे। गौरी उन्हें धमका रही थी शङ्कर हँस रहे थे।

वृषभ बाँ-बाँ बोली बोल रहा था। क्षण भर में ही दृश्य बदल गया। अब वहाँ ने इन्द्र, न अप्सरायें मेरे सामने नन्दीश्वर पर

चढ़े हुए पार्वती परमेश्वर उपस्थित थे। अपने इष्टदेव को सम्मुख देखकर मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भूमि में लोट कर मैंने भगवान् भुवनेश्वर को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। यथाप्राप्त वन्य सामग्रियों से उनकी पूजा की प्रेमाश्रुओं से मेरे नेत्र भर गये। भली भाँति अपने इष्ट के दर्शन भी न कर सकता था। तब मैंने नेत्र बन्द करके विविध स्तोत्रों से उनकी स्तुति की। मेरी स्तुति से प्रसन्न होकर भवानीनाथ मुझसे बोले—"वत्स उपमन्यु! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देने के लिये उपस्थित

हूँ। हे मुनिपुंगव ! तुम मेरा दर्शन करो, अपना अभीष्ट वर मुझसे माँगो। मैं तुम्हें सब कुछ दूँगा।"

उपमन्यु कहते हैं—"भगवन् ! जब शिवजी ने इस प्रकार मुझसे कहा, तब मैंने रुद्धकण्ठ से प्रेमाश्रु बहाते हुए कहा—'हे विभो ! जब आपने मुझे दर्शन ही दे दिये, तब मेरे लिये अब अप्राप्य क्या रहा ? मुझे तो आपके चरणों की निरन्तर अहैतु की भक्ति ही चाहिये। मैंने दूध भात के निमित्ति आपकी आराधना की थी, किन्तु जब आपकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो गई, तो इन तुच्छ वस्तुओं से क्या प्रयोजन ?"

इस पर वरदानियों में श्रेष्ठ आशुतोष गिरिनन्दिनीवल्लभ भगवान् त्रिपुरारी मेघगम्भीर वाणी में मुझसे बोले— मुनिवर उपमन्यु ! तुम्हें मेरी भक्ति तो प्राप्त हो ही गई। वह सदा तुम्हारे हृदय में बनी रहेगी। तुम मेरे भक्तों में सर्वश्रेष्ठ होगे। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अजर, अमर तथा यशस्वी, तेजस्वी होने का वरदान और देता हूँ। तुम देवताओं के सदृश इस पृथ्वी पर हो जाओगे। तुमने दूध भात के लिये मेरी उपासना की थी, इसलिए अब मैं तुम्हें हजार पाँच-सौ गौओं का वरदान क्या दूँ। सम्पूर्ण क्षीरसागर ही मैं तुम्हें दिये देता, हूँ। तुम जहाँ भी इच्छा करोगे, वहीं क्षीरसागर तुम्हारे पास आजायगा। जितना चाहो दूध पिओ, जितना चाहो अतिथियों को पिलाया करो, दिन भर दूध ही पीते रहो। रात्रि में भी इधर-उधर भरकर रख लिया। दूध को तुम्हें कभी भी कमी न रहेगी।'

उपमन्यु मुनि कहते हैं—वासुदेव ! जब शूलपाणि भगवान् शङ्कर ने मुझे इतने दुर्लभ वरदान दिये, तब मैंने हाथ जोड़कर विनती की—'प्रभो ! एक वरदान मुझे और दें। आप सदा मेरे आश्रम पर ही निवास करें।' मेरी प्रार्थना सुनकर चन्द्रमौलि

मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले—'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आज से मैं सदा तुम्हारे आश्रम के समीप रहूँगा। तुम जब, चाहोगे, मुझे प्रत्यक्ष देख सकोगे।' सा हे जनार्दन! तब से सदाशिव सर्वदा इस आश्रम में सन्निहित रहते हैं। आप उनकी आराधना करें। अवश्य ही पशुपति भगवान् शङ्कर आपकी मनोकामना शीघ्र से शीघ्र पूरी करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि उपमन्यु के साथ शिव-गुन गाते-गाते आठ दिन भगवान् के बात की बात में निकल गये। उन्हें उतना समय क्षण के समान प्रतीत हुआ। तब भगवान् ने महामुनि उपमन्यु से शिव-मन्त्र की दीक्षा लेकर शिव-आराधना करनी आरम्भ कर दी। वे एकान्त में रह कर घोर तपस्या करने लगे। एक महीने वे फलों पर ही रहे, दूसरे महीने केवल जल का ही आहार करते रहे, फिर जल छोड़कर केवल वायु पीकर ही वे एक पैर से खड़े होकर कठिन तप में निमग्न हो गये। पाँचवें महीने के पश्चात् भगवान् शंकर ने उन्हें दर्शन दिये। त्रिशूलधारी शंकर के दर्शनों से भगवान् को परम आह्लाद हुआ। शिवजी ने उनसे कहा—'हे वासुदेव! नेत्र खोलो और मुझे देखो। मुझसे अभीप्सित वर माँगो।

तब भगवान् ने हाथ जोड़कर शिवजी से कहा—"प्रभो! मुझे सहस्रों पुत्र दीजिये, जिनको धर्म में मति हो, सब शूरवीर पराक्रमी हों; रण में उन्हें कोई जीत न सके।"

शिवजी ने कहा—"तथास्तु! ऐसा ही होगा।" फिर माता पर्वतीजी ने भी भगवान् को १६ हजार पत्नियों का, दिव्य सौन्दर्य का तथा और भी बहुत से वरदान दिये। इस प्रकार शिवजी भगवान् को दर्शन और वरदान देकर तत्क्षण अन्तर्धान हो गये। भगवान् भी महामुनि उपमन्यु की पूजा करके और उनसे सत्कृत

होकर द्वारका को लौट आये और उनके १६१०८० पुत्र हुए। सो, मुनिवर जिन चराचर के स्वामी शिवजी की सभी उपासना करते हैं, स्वयं साक्षात् श्रीहरि भी लोकसंग्रह के लिये नरनाट्य दिखाने के लिये, जिनकी आराधना करते हैं, उन शिवजी को दक्ष ने साधारण देवता समझकर भरी सभा में उनका अपमान किया। उनको कुवाच्य कहे, शाप दिया। तो भी शिवजी ने न तो शाप दिया ! और न कुछ बुरा वचन ही कहा। वे चाहते तो दक्ष को वहीं भस्म कर सकते थे। जो अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से चराचर विश्व की प्रलय कर डालते हैं, उनके सामने बेचारा दक्ष था ही क्या ? किन्तु वे जो क्षमा के सागर हैं। बच्चा यदि माँ की गोद में लात मारता है, तो माँ उसे फेंक थोड़े ही देती है, क्षमा कर देती है। इसी भाँति शिवजी ने उसकी अविनय की ओर ध्यान नहीं दिया। वे उठ कर कैलास को चले गये।

छप्पय

आराधे शिव सहस बरष सब सुख तनु त्यागे।
दये देव ने दरस दुःख दारिद सब भागे॥
अजर अमर बपु कर्‌यो दूध को सागर दीन्हों।
कृपा कपर्दी करी कृतारथ किंकर कीन्हों॥
सुनि हरि हू ने हर भजे, सहस सुतनि शिव वर दये।
है सतकृत ऋषि मुनिनि तैं, कृष्ण द्वारका कूँ गये॥

प्रजापतियों के सत्र की समाप्ति

[१८८]

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥
आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २ अ०, ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

ऐसे शिव कूँ शाप दक्ष ने दारुण दीन्हों ।
कर्‌यो न हर ने कोप शाप शिर धारण कीन्हों ॥
शापा-शापी निरखि विमन शिव निज गिरि धाये ।
सहस साल को सत्र पूर्ण करि सब मिलि न्हाये ॥
सुखद सिद्धिप्रद अघहरन, पावन पुण्य प्रयाग महँ ।
अवभृथ मज्जन कर्‌यो सब, गङ्गा यमुना मिलीं जहँ ॥

---

* महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"हे महाधनुर्धारी विदुरजी ! उन प्रजापतियों के जिस यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ उपास्य श्री हरि थे उस हजार वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ की पूर्णाहुति करके और जहाँ गङ्गा तथा यमुना का सङ्गम है, उस तीर्थराज प्रयाग में अवभृथ स्नान करके शुद्ध चित्त होकर सभी अपने-अपने स्थानों को चले गये ।"

हृदय में जब किसी के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है, तब स्नेह सम्बन्ध सब शिथिल हो जाते हैं। मन में सदा द्वेषाग्नि जलती रहती है, चित्त चाहता है जैसे भी हो तैसे इसे नीचा दिखावें। किस तरह इसे क्लेश पहुँचावें, कैसे इस पर अपना विरोध प्रकट करें। संसार में ईर्ष्या द्वेष का अस्तित्व न होता, सब एक दूसरे से प्रेम ही करते, तो ये लड़ाई झगड़े शोक, रोग, भय, मत्सर, कुछ न होते। मनुष्य चैन की बंशी बजाते आनन्द में विचरते। पहिले रोगों को कोई जानता ही नहीं था। प्रजापतियों के यज्ञ में प्रयाग-क्षेत्र में रोगों का गर्भाधान संस्कार हुआ और दक्ष के यज्ञ में सब उत्पन्न हो गये। तभी से संसार में रोगों की उत्पत्ति हुई। आवश्कता आविष्कार की जननी है। जब रोग हुए तो उनकी शान्ति के लिये आयुर्वेद-शास्त्र का निर्माण हुआ। ब्रह्माजी ने इन्द्र को पढ़ाया, इन्द्र ने ऋषियों को पढ़ाया, ऋषियों ने पृथ्वी पर रोगों के निदान करके चिकित्सा का प्रचार किया। देवताओं को अजर अमर और निरामय कहा है, फिर भी जब खाते पीते हैं, विषयोपभोग करते हैं, एक दूसरे से डाह करते हैं, तो उनके भी रोग होना स्वाभाविक है। अतः उनके यहाँ भी अश्विनी कुमार नामक दो देवता भाई वैद्य बनाये गये। सृष्टि पूरी बढ़ी भी नहीं थी कि अवनति का आरम्भ हो गया, क्योंकि उन्नति के साथ ही अवनति सटी रहती है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! प्रजापतियों के यज्ञ से दक्ष चले गये। शिव चले गये। सबके मन में उदासी-सी आ गई; फिर भी यज्ञ को पूरा करना ही था। विधि-विधानपूर्वक ऋषियों ने उस सहस्र वर्ष के बृहद् यज्ञ को समाप्त किया। यज्ञ के अन्त में जो अवभृथ स्नान होता है, वह उस स्थान में हुआ जहाँ त्रैलोक्य-पावनी, मुनि-मन-हारिणी, शिव-शिर-विहारिणी,

त्रिपथ-गामिनी, त्रिविक्रम पदांगुष्ठ-निसृता, सरित्-प्रवरा भगवती भागीरथी अपनी बड़ी बहिन दिवाकर-नन्दिनी, कृष्ण-प्रिया कालिन्दी से आकर मिली हैं, जहाँ सितासित सलिल का सुखद सुहावना सङ्गम है, जहाँ विश्ववन्दिता वीणा-धारिणी अर्थप्रकाशिनी भगवती सरस्वती पीछे से गुप्त रूप से आकर दोनों बहिनों के बीच में खड़ी हो गई है। इसीसे जिन्हें समस्त सुखदेनी. पाप काटने की छेनी त्रिवेणी कहते हैं उस श्री माधवजी के नित्य-निवास-भूत संगम में सभी ने यज्ञान्त स्नान करके अक्षय पुण्य को प्राप्त किया। सभी ब्राह्मणों को यथेष्ठ दान दक्षिणा देकर अपने-अपने स्थानों को चले गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! आप प्रयागराज की बार-बार इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं। इस क्षेत्र की इतनी पवित्रता का क्या कारण है? देखिये, हिमालय आदि में बड़े-बड़े पवित्र तीर्थ हैं, जहाँ बड़ी कठिनता से लोग जा सकते हैं। उनकी तो आप प्रशंसा करते नहीं और बार-बार प्रयागराज तीर्थराज, त्रिवेणी, संगम का ही राग अलापते हैं, इसका क्या कारण है? अब तक तो हम गंगाजी को ही बड़ी समझते थे, आप यमुनाजी को बड़ी कह रहे हैं—इसे भी आप हमें समझावें।"

यह सुनकर सूतजी कुछ गंभीरता के साथ बोले—"मुनिवर! यह पुण्यप्रद वस्तु है, यह पापप्रद, यह उत्तम है, यह निकृष्ट इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। रही कठिनता से यात्रा करने की बात, तो यह कोई नियम नहीं कि जो कठिनता से प्राप्त हो वह श्रेष्ठ ही हो। गौ-मूत्र सर्वत्र सुलभ है, उसे श्रेष्ठ माना है, पापों को नाश करने वाला कहा है। सिंह व्याघ्र का मूत्र अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, उसे अत्यन्त निन्दनीय माना है। शास्त्र जिसे श्रेष्ठ बतावें वही श्रेष्ठ है, जिसे निकृष्ट बतावें वही निकृष्ट

है। कुछ तीर्थों का वर्णन वेदों में है, कुछ का वर्णन पुराणों में है। कुछ लौकिक तीथ हैं, कुछ परम्परा से प्रसिद्ध हैं; किन्तु इन प्रयागराज का वर्णन तो वेद, पुराण, इतिहास, धर्म-शास्त्र सभी में है। वंश-परम्परा से पवित्रता में यही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि ब्रह्माजी ने यहीं से यज्ञों का विस्तार किया। बड़े-बड़े प्रकृष्ट यज्ञ होने से ही यह प्रयागराज नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रजापतियों ने भी यहीं यज्ञ किया। प्रलय के अनन्तर अक्षयवट के पवित्र पुट पर करारविन्द से पदारविन्द के अंगुष्ठ को मुखारविन्द में देकर बालमुकुन्द यहीं शयन करते हैं। सृष्टि का आरम्भ यहीं से होता है, मार्कण्डेय मुनि को यहीं माया वैभव दिखाई देता है। प्रलय का जल यहीं से समुद्र रूप से निकल कर सातों समुद्रों को एक करता है। इसीलिये यह क्षेत्र सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि यह प्रजापतियों का क्षेत्र है फिर भी विष्णु ही इसके रक्षक हैं। बारह रूपों से श्रीमाधव ही इस पचयोजन विस्तीर्ण क्षेत्र का आधिपत्य करते हैं। इसीलिये यह विशुद्ध वैष्णव-क्षेत्र है। भगवान् ब्रह्मदेव ने विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त तीर्थों का प्रयागराज को सम्राट् बनाया है। इस तीर्थ का माहात्म्य तो मैं यत्किञ्चित् तीर्थ-माहात्म्य-प्रसंग में वर्णन करूंगा। यमुनाजी इस क्षेत्र में पहिले से ही विराजती थीं, गंगाजी पीछे आईं। इसीलिये यमुनाजी बड़ी हैं। यमुनाजी ने जब देखा मेरी बहिन गंगाजी आई हैं, तो अर्घ्य लेकर आईं; किन्तु गङ्गाजी ने उनका अर्घ्य स्वीकार नहीं किया। यमुनाजी ने इसका कारण पूछा। इस पर गङ्गाजी बोलीं—तुम सब सरिताओं में श्रेष्ठ हो; तुमसे जहाँ मैं मिली कि मेरा नाम ही मिट जायगा।"

यह सुनकर यमुना रानी हँसीं और बोलीं—"अब तुम हमारे घर आई हो, इसलिये तुम्हारा स्वागत सत्कार तो करना ही है।

अच्छी बात है, आगे तुम्हारा ही नाम होगा। मेरा नाम कोई न लेगा, किन्तु सौ योजन के लगभग इस प्रकार तुमसे मिलकर चलूँगी। आगे फिर मैं अलग हो जाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दोनों बहिनों में जब ऐसा समझौता हो गया, तो वे एक दूसरे से गले से गला लगाकर मिलीं। ऐसी मिलीं कि एकाकार हो गईं। आगे चलकर बंग प्रदेश में (मुर्शिदाबाद से आगे) गङ्गा, यमुना, सरस्वती तीनों पृथक्-पृथक् हो गई हैं। वहाँ यमुनाजी गङ्गाजी से निकल कर पृथक् बहती हैं। अब तक वे यमुना के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रयाग में गङ्गा यमुना सरस्वती मिली हैं, अतः इसे युक्त त्रिवेणी कहते हैं। जहाँ ये एक दूसरे से पृथक् हुई हैं, उसे मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। मिलन सुख-कर है, विछुरन दुःख-कर है। इसीलिये युक्त त्रिवेणी संसार में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। मुनियो! वेदों में, पुराणों में सर्वत्र प्रयाग की अनन्त महिमा भरी पड़ी है। पद्मपुराण जो सात्विक पुराणों में सर्वश्रेष्ठ और सबसे बड़ा है, उसमें पग-पग पर प्रयाग का गौरव गाया गया है। यहाँ उन सब बातों को कहने से इस दक्ष-यज्ञ के कथा-प्रसंग का प्रवाह रुक जायगा। इसलिये महर्षियो! मुझे क्षमा करें। मैं प्रयाग की महिमा कहूँगा, अवश्य कहूँगा, सुरेता के साथ कहूँगा; आप दृढ़ विश्वास रखें, किन्तु प्रसंगानुसार ही कहूँगा। अप्रासंगिक बात कहने से सब यही कहेंगे—"ये वक्ता तो प्रयाग के प्रति पक्षपात करते हैं।"

हाँ, तो प्रजापतियों का यज्ञ समाप्त हुआ। शिवजी कैलाश में जाकर तपस्या में निरत हुए। ब्रह्माजी ब्रह्मलोक में अपने विश्व कार्यालय के काम में व्यस्त हो गये। सब लोग उस दक्ष वाली घटना को भूल गये। सब तो भूल गये, किन्तु भला दक्ष कब भूलने वाले थे? उनके मन में तो द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो

रही थी। वे तो इसी चिन्ता में थे, कि किस प्रकार शिवजी को नीचा दिखाया जाय, किस प्रकार वे पंक्ति से पृथक् किये जायँ; कैसे उन्हें ब्रह्माजी से लोकपाल के पद से च्युत कराया जाय ?

"मुनियो ! जिन लोगों के मन में द्वेष हो जाता है, वे सदा अनिष्ट की, दम्भ की बातें ही सोचते रहते हैं। वे धर्म भी करते हैं, तो दम्भ के लिये, दिखावे के लिये। यज्ञ भी करते हैं, तो अपना वैभव प्रदर्शन करने के लिये, अपने प्रतिपक्षियों को नीचा दिखाने के लिये। राग-द्वेष के वशीभूत होकर वे धर्म की आड़ में अधर्म करते हैं। देखने में पुण्य-सा लगने वाला वे पाप ही करते हैं। स्वार्थी चापलूस उन्हें और आकाश में चढ़ा देते हैं—अजी, आपके समान कौन है। ऐसा भला और कौन कर सकता है ?

"दक्ष ने सोचा—इस शंकर को तो जाति-पाँति से पृथक् करना ही है, और किसी का तो ऐसा साहस होगा नहीं, उस भूत पिशाच के पति से सभी डरते हैं। इस प्रथा का श्रीगणेश हमारे ही यहाँ से हो, तब सब यज्ञों में यही प्रथा प्रचलित हो सकती है। हमें ब्रह्माजी ने प्रजापतियों का पति बनाया है। उसी के उपलक्ष्य में एक बहुत बड़ा बृहद् यज्ञ हम ही क्यों न करें। इससे हमारा वैभव भी प्रदर्शित होगा, शिव का बहिष्कार भी आरम्भ होगा और वह भी समझ जायगा, कि मेरे सम्मान न करने का क्या दुष्परिणाम होता है। हम 'बृहस्पतिसव' नामक यज्ञ करें। उसमें समस्त देवता, पितर, देवर्षि महर्षि तथा सिद्ध, चारण, गन्धर्वों को बुलावें। केवल शंकर को न बुलावें। उसमें शंकर का भाग भी न निकालें। ऐसा करने से सबके सम्मुख शिव का भाग सदा के लिये बन्द हो जायगा। फिर अवसर पाकर ब्रह्माजी से कहेंगे—'महाराज यह भभूतिया को लोकपाल के पद से च्युत करके इसके स्थान पर किसी अन्य को लोकपाल बना

दो।' ब्रह्माजी तो हमारे पक्ष में ही हैं, उसी समय अपने किसी नाती धेवते को ईशान कोण के लोक-पालत्व के पद पर प्रतिष्ठित कर देंगे। रही सती की बात, यद्यपि वह मेरी पुत्री है, फिर भी उसका भाग्य फूट गया। उसे ऐसा अघोरी पति मिला। मैं समझूँगा, मेरी ओर से उसकी मृत्यु हो गई। जैसे, कैसा भी सुंदर भोजन दो, विष से यदि उसका संसर्ग हो जाता है, तो वह परिश्रम से बनाया हुआ सुन्दर भोजन भी त्याज्य हो जाता है। इसी प्रकार शिव के संसर्ग से सती भी मेरे लिये मृतवत् बन गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो, द्वेष के कारण दक्ष की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। ईर्ष्या ने उसके विवेक को नष्ट कर दिया। तभी तो उसने दूसरों को अपमानित करने की बुद्धि से यज्ञ-जैसे पवित्र कर्म का आश्रय लिया। कर्मों के फल तो भाव के अनुसार होते हैं। कितना भी शुभ कर्म क्यों न हो, यदि वह दूषित भाव से किया जायगा, तो उसका परिणाम दुःखप्रद ही होगा। दक्ष ने द्वेष-वश ऐसा कार्य किया। उससे जो उसे क्लेश हुआ, मुनियो! उसका वर्णन मैं आप सबके सम्मुख करूँगा। आप इसे सुनकर ऊबें नहीं। हर-चरित्र समझकर श्रद्धा से श्रवण करें।"

छप्पय

कछुक कालमहँ बात सत्र की भई पुरानी।
किन्तु ईरषा अधिक दच्छ के चित्त समानी॥
सोच्यो—अब इक यज्ञ करूँ यह प्रथा चलाऊँ।
सती शम्भु कूँ यज्ञ माहिँ हौं नाहिँ बुलाऊँ॥
इहि विधि मनमहँ सोचि कें, यज्ञ वृहस्पति सव रच्यो।
पशुपति-निन्दा-रूप जो, पाप हृदयमहँ नहिँ पच्यो॥

दक्ष यज्ञ में देवों का देवाङ्गनाओं के साथ गमन

[१८६]

व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डला ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥*
(श्री भा० गी० ४ स्क० ३ अ० ६, ७ श्लो०)

छप्पय

नाहिँ द्रव्य की कमी यज्ञ के ठाठ जमाये ।
दौरि-दौरि सब ठौर-ठौर धावन धरि धाये ॥
देव उरग, गन्धर्व निमन्त्रण सबनि पठाये ।
किन्तु यज्ञ के अधिप सदाशिव नाहिँ बुलाये ॥
अति उमंग ललना भरीं, सत्र माहिँ सजि-बजि चलीं ।
प्रिय पति संग विमानमहँ, लागें विद्युत् सम भलीं ॥

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! दक्ष-पुत्री सती ने अपने आश्रम के निकट देखा, सुन्दर वस्त्र पहिने तथा कानों में स्वच्छ कुन्डल और गले में सोने की हमेल आदि पहिने उपदेवों की लोलाक्षी ललनायें अपने पतियों के साथ, विमानों में बैठी दक्ष के यज्ञ में जा रही हैं। तब अत्यन्त उत्सुकता से उन्होंने अपने पति भगवान् भूतनाथ से कहा ।"

मनुष्य सदा एक सी स्थिति में रहते-रहते ऊब सा जाता है। वह कुछ परिवर्तन चाहता है। कुछ मनोरंजन की आवश्यकता सबको होती है, प्रकृति भेद से मनोरंजन की सामग्रियों में और उपायों में अन्तर तो होता है, नहीं तो कुछ विशिष्ट लोगों को छोड़कर सभी कुछ न कुछ मनोरंजन चाहते हैं। स्त्रियों को प्रायः घर के भीतर ही रहना पड़ता है। इसलिये उन्हें मेले-ठेले में जाने में, उत्सव समारोह में सम्मिलित होने की अत्यधिक लालसा रहती है। जब उन्हें किसी समारोह में जाने का सुअवसर प्राप्त होता है, तब देखो उनकी शीघ्रता। यह भी ला, वह भी ला। उस साड़ी को देख, इस साड़ी को देख। यह आभूषण ठीक नहीं, यह वस्त्र फबता नहीं, पहरों इसी सज धज में लगा देती हैं। बड़ी सज-धज के साथ बन ठन के निकलती है। पुरुष चिल्लाते ही रहते हैं--बड़ी देर हो रही है, चलो, चलो, किन्तु वहाँ कौन सुनता है। जब तक साज शृंगार पूरा न हो जाय, चौखट के बाहर पैर नहीं रखेंगी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे दस-बीसों के साथ घुल मिल कर रहने में, अपने स्नेहियों के साथ वर्तालाप करने में साथ बैठकर खाने-पीने में, हँसी विनोद करने में स्वभाविक सुख होता है। पुरुषों में तो अभिमान की मात्रा अधिक रहती है, वे अपनी पद प्रतिष्ठा समझकर बड़ी गम्भीरता से दूसरों से बातें करते हैं। बहुत काल में वे सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं, किन्तु स्त्रियों में यह बात नहीं। पहुँचते ही स्त्रियाँ परस्पर में घुल-मिल जाती हैं। क्षण भर में बहिन-बहिन की तरह हो जाती है और परिचय ही नहीं कर लेतीं, थोड़े ही समय में घर बार की, पति के स्वभाव बर्ताव की सब बातें पूछ डालती हैं। उनमें स्वभाविक अभिन्नता स्थापित करने की रुचि होती है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुर जी! प्रजापति दक्ष ने अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने तथा शिवजी को नीचा दिखाने की इच्छा से पहिले बाजपेय यज्ञ का निश्चय किया। तदन्तर बृहस्पति-सव नामक यज्ञ का। इसके लिये समस्त देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चरण, गुह्यक, प्रजापति, लोकपाल तथा अन्य सभी लोगों को निमन्त्रण भेजे गये,। सब ने प्रजापतियों के पति दक्ष के निमन्त्रण को शिरसा सहर्ष स्वीकार किया और वे सज धज कर अपनी पत्नियों के सहित यज्ञ में सम्मिलित होने को जाने लगे। देवताओं तथा उपदेवों की स्त्रियों ने जब सुना कि हमें अपने पतियो के साथ गङ्गा किनारे कनखल में दक्ष के यज्ञ में चलना है, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भली-भाँति अपने शरीर को सजा-बजा के सोलह शृंगार करके चलने की तैयारी कीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गृहस्थियों के यहाँ दो तरह के वस्त्र होते हैं। एक तो नित्य पहरने के, दूसरे घरऊ। जब उन्हें किसी विवाह लग्न में अथवा उत्सव समारोह में जाना होता है, तो घरऊ कपड़े को पहिनते हैं। पुरुष चाहे न भी पहिनें, किन्तु स्त्रियों को तो अपना वैभव दिखाने का बड़ा चाव होता है। इसलिये उपदेवताओं की स्त्रियाँ सोने की मालायें, हार, हमेल पहिनकर कानों में कुन्डल धारण करके सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर पतियों के साथ विमानों पर आ बैठीं। विमानों के झुंड आकाश में उड़ते हुए कैलास के ऊपर से ही जा रहे थे। उनमें बैठी हुई देवाङ्गनाओं की करधनी तथा नूपुरों की खनखनाहट तथा चूड़ियों की झनझनाहट से सम्पूर्ण आकाश-मण्डल गूँजता सा प्रतीत होने लगा। सतीजी बाहिर किसी काम से आईं। उन्होंने जब असंख्यों विमनों की पंक्तियों

को एक साथ उड़ते हुए देखा, तो उनके मन में बड़ा कुतूहल हुआ। ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं? माघ का महीना भी नहीं कि सब तीर्थराज प्रयाग को जा रहे हों। कुम्भ का भी अवसर नहीं, कोई पर्व भी नहीं। फिर ये इतने देव उपदेव लोकपाल, प्रजापति कहाँ जा रहे हैं? देखो, ये अपने-अपने पतियों के साथ विमानों में बैठी देवाङ्गनायें कैसी शोभित हो रही हैं? कितने उल्लास से हँस-हँस कर अपने पतियों से बातें कर रही हैं। इनके पति भी अपना सम्पूर्ण प्रेम इनके ऊपर उड़ेलते हुए इनके सभी प्रश्नों का कितने प्रेम से उत्तर दे रहे हैं। एक मेरे भी पति हैं, सदा समाधि में ही मग्न रहते हैं। न कोई विमान है, न उड़न-खटोला, वही एक डूँड़ा सा बैल है जिसकी पीली-पीली आँखें जुगनू की तरह चमकती हैं। इन देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ घूमने-फिरने में सुख होता है। नई-नई वस्तुओं को देखने की उत्सुकता होती है। हमारे पति तो भोलेनाथ ही ठहरे, इन्हें न कोई उत्सुकता, न इच्छा। वे अपने आप में ही परिपूर्ण रहते हैं। उन्हें सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों के खाने की भी इच्छा नहीं। आक धतूरे को ही प्रेम से उड़ा जाते हैं, हलाहल विष को ही पी जाते हैं। यदि ये सब किसी पर्व-स्थान को जा रही हैं, तो मैं भी अपने प्राणनाथ से प्रार्थना करूँगी, कि महाराज, इस डूँड़े बैल को तो अब आप अवकाश दे दें, अपने मित्र कुबेर के यहाँ से एक विमान मँगाकर मुझे भी पर्व स्नान करा लावें।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! अभी तक सतीजी को प्रजापतियों के यज्ञ वाली बात का पता ही नहीं था। उस समय पता नहीं क्यों, शिवजी सतीजी को साथ नहीं ले गये थे। आने पर उन्होंने कोई चर्चा ही नहीं की। भोलेनाथ ही ठहरे। या तो भूल गये, या सोचा होगा—सती के बाप की बात है, सुनेगी तो दुखी

होगी। इसलिये उन्होंने किसी प्रसंग में भी उनसे ये सब बातें नहीं कहीं। इसीलिये सतीजी को कोई संदेह नहीं था। उन्होंने देवाङ्गनाओं से पूछा—"बहिनो! तुम सब इतनी सज-धज के साथ कहाँ जा रहो हो?" सतीजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर देवाङ्गनायें परस्पर में एक दूसरे को देख कर विस्मय के साथ हँसने लगीं। उन्हें इस प्रकार हँसते देख कर सतीजी को और भी विस्मय हुआ और वे बोलीं—"जीजियो। तुम इस प्रकार विस्मित क्यों हो रही हो? मुझे अपने विस्मय का कारण बताओ और यह भी कहो तुम सब कहाँ पर किस तीर्थ में, किस उत्सव समारोह में जा रही हो?"

उनमें से एक चंचल सी नई उमर की देवाङ्गना बोली—"माताजी! आपको पता नहीं। आपके पिता के यहाँ से हम सबको निमंत्रण आया है। उन्हीं के यहाँ उत्सव में हम सब अपने-अपने पतियों के साथ जा रही हैं।"

सतीजी ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ पूछा—"मेरे पिता के यहाँ किस बात का उत्सव है?"

वही देवाङ्गना जल्दी से बोली—"लो, आपको इतना भी पता नहीं। उनके यहाँ तो बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है! आपको नहीं बुलाया क्या?"

सतीजी का मुँह फक्क पड़ गया। मेरे पिता के यहाँ इतना बड़ा यज्ञ हो और मुझे उसका पता न चले! मुझसे तो पिता बड़ा स्नेह करते थे। मुझे कैसे भूल गये? आने वाला भूलकर अलकापुरी चला गया होगा।

अपनी झेंप मिटाने को सतीजी बोलीं—"जीजियो! मेरे पति को तुम जानती ही हो। वे हजारों वर्ष की समाधि लगा जाते हैं। उस समय मैं उनकी ही सेवा में संलग्न रहती हूँ। इनके गण

तो जैसे हैं, सब तुमने देखे ही हैं। टेढ़े-मेढ़े, काने-कुबड़े, लँगड़े-लूले, विरूप, कुरूप, नंगे, दो हाथ वाले, तीन, चार, दस, सौ, हजार हाथ वाले। समाधि के समय ये सब विचित्र आकृति वाले गण पहरे पर रहते हैं। कोई आया होगा, तो इन्हें देखकर ही भाग गया होगा। मैं अभी उनसे कहती हूँ। तुम चलो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही भगवान् विश्वनाथ को लेकर आ रही हूँ। यह तुमने बड़ा सुखद सम्वाद सुनाया। सोई तो मैं सोच रही थी, कि कल से ही ये झुण्ड के झुण्ड विमान कहाँ जा रहे हैं? अच्छा राम-राम! जाओ। मेरी माताओं से, मौसियों से, मौसियों की लड़कियों से, बहिनों से हमारी राजी खुशी कह देना। यह भी कह देना—सती हमें मिली थी, वह अब बस, शीघ्र आने वाली है।"

"बहुत अच्छा! हम सबसे आपका सन्देश कहेंगी" इतना कहकर देवांगनायें तो विमानों में उड़कर चली गईं और सतीजी लौटकर अपनी गुफा की ओर जाने लगीं। उन्हें पिता के यहाँ जाने की अत्यन्त उत्कंठा हो रही थी। क्षण भर में ही यज्ञमण्डप का समस्त दृश्य उनकी आँखों के आगे नाचने लगा—ऐसा यज्ञ हो रहा होगा। मेरी सभी बहिनें, बहनोई मौसी, मौसा, मामा, मामी, फूफा, फूफी तथा और सभी सम्बन्धी आये होंगे। मुझे न देख वे क्या सोचते होंगे? पिताजी मुझे कैसे भूल गये? कोई बात नहीं, पिता भले ही भूल जायँ, मैं कैसे भूल सकती हूँ? मैं जाऊँगी और कहूँगी—पिताजी! देखिये, आपने तो हमें नहीं बुलाया। हम बिना बुलाये ही आ गये। तब वे मुझे गोद में बिठा कर मेरा सिर सूँघेंगे और कहेंगे—"बेटी! मैंने आदमी तो भेजा था।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार अनेक मनोरथ करती हुई वे अपने पति भगवान् विश्वनाथ के समीप पहुँचीं।"

छप्पय

निरखीं प्रमदा सती पतिन सँग सुख तें गावति।
बैठि बिमाननि विहँसि सिहावति अति हरषावति॥
पूछें—"भैना ! कहहु जाउ कह सब सुकुमारी।"
बोलीं—'तव पितु गेह यज्ञ उत्सव है भारी॥
अबई तुम च्यौं नहिं गईं, का कछु अनबन ह्वै गई।
अथवा रिस है प्रजापति, खबरि यज्ञ की नहिं दई॥

सतीजी का दक्ष यज्ञ में चलने का आग्रह

[१६०]

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतम्,
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३ अ० ८ श्लो)

छप्पय

विस्मय, लज्जा, हर्ष मोद उत्सुकता सब सँग।
भये महोत्सव सुनत पिता घर पुलके अँग-अँग ॥
शिव समीप पुनि दौर गईं बोली सुन अघहर।
श्वसुर तुम्हार उदार करहिँ इक वृहत् यज्ञ वर ॥
हँसि भोले बाबा कहें—यह जग पथिक निवास है।
हाय हाय होवै कहूँ, कहुँ उत्सव उल्लास है ॥

---

* मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी ! सती देवी अपने पति शिवजी से बोलीं—हे देव ! तुम्हारे प्रजापति श्वसुर के यहाँ इसी समय एक बड़े भारी यज्ञ महोत्सव का आयोजन हो रहा है। देखिये ये सब देवगण वहीं जा रहे हैं। यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं भी आपके साथ उस महोत्सव में सम्मिलित होने चलूँ ?"

बच्चे जिस बात को अत्यन्त कुतूहल–पूर्ण समझ कर अपने गुरुजनों से कहते हैं, बड़े लोग उसे साधारण सी घटना समझ कर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इन्हें न उत्सुकता होती है न महान उल्लास। अज्ञानी जिन बातों को अत्यन्त ही महत्वपूर्ण समझते हैं, ज्ञानियों के वे सब नगण्य पदार्थ हैं। जगत के व्यापार तो सब एक ही हैं, केवल दृष्टिकोण में अन्तर है। भावना से ही हम अपनी पराई, छोटी-बड़ी, कुरूप अच्छी बुरी की कल्पना कर लेते हैं। जिनसे अपनापन है, मैत्री भाव है, उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख होता है। जिनसे अपनापन नहीं है, शत्रुता है, उनके सुख में दुःख और दुःख में सुख होता है। जो उदासीन हैं उनके सुख-दुःख में सामान्य बुद्धि होती है, किन्तु जिनका सर्वत्र समान भाव है, जिनके लिये शत्रु, मित्र, उदासीन आदि का भेद-भाव है ही नहीं, उनके लिये किसी घटना से कुतूहल नहीं; किसी बात में नूतनता नहीं, किसी के देखने की उत्सुकता नहीं। वे समझते हैं, गुणगुणों में वर्त रहे हैं। उनमें आसक्त होने की, आश्चर्य करने की कौन सी बात है ?

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुर जी ! जब शिव-पत्नी सती ने देवाङ्गनाओं के मुख से अपने पिता के यज्ञोत्सव का समाचार सुना, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अब उन्हें यह एक–एक क्षण भारी हो गया। उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। यज्ञ-मण्डप का दृश्य नेत्रों के सम्मुख आते ही उनका हृदय इठलाने लगा। बार-बार सोचतीं–मेरी सब बहिनें भाँति-भाँति के वस्त्रा-भूषणों से अलंकृत होकर, थालों में भाँति-भाँति के उपहार लेकर यज्ञ मण्डप में जा रही होंगी। उनके पतियों से साथ मेरी माँ उनका स्वागत सत्कार कर रही होंगी। उन सबके लड़के बच्चे कल-कल करते हुए क्रीड़ा कर रहे होंगे। सबसे मुँह भर के मौसी–

मौसी कहते होंगे। मेरी बहिनें परस्पर में एक दूसरे के बच्चों को गोदी में बिठा बिठाकर उन्हें प्यार कर रही होंगी, उनके मुँह को बार-बार चूम रही होंगी। बच्चे सब नानी नाना, मामी मामा; मौसी मौसाओं के प्यार को पाकर उल्लास से नाच रहे होंगे। अभी मैंने अपनी बहिनों के बच्चों को देखा भी नहीं है। देखें भी तो कहाँ से ? ये भोले बाबा भी तो यहाँ बीहड़ बन में आकर बैठे हैं। अब मैं जाकर सबको देखूँगी। सब बच्चों को उपहार दूँगी।"

इन बातों को सती जी जितना ही सोचतीं उतनी ही उनकी उत्कण्ठा की वृद्धि होती। वे सोच रही थीं यदि मेरे पंख होते, तो अभी सबके पहले उड़कर पिता के यज्ञ में पहुँच जाती। इस प्रकार बड़ी शीघ्रता के साथ वे अपने प्राणनाथ भूतपति शङ्कर के सम्मुख गईं। शिवजी एकान्त में बैठे राम नाम का जप कर रहे थे। जाते ही घड़बड़ाहट के साथ बड़े स्नेह से दण्डवत् की शिवजी समझ गये इस इतनी लम्बी डण्डौत के गर्भ में कोई विशेष प्रयोजन छिपा हुआ है। यह अकारण दण्डवत् नहीं है। उत्सुकता में हाँपती हुई सतीजी बोलीं—"प्राणनाथ, आप कहें तो आपको एक बड़ी ही प्रसन्नता की बात सुना दूँ।"

गम्भीरता के स्वर में भोले बाबा बोले—"कहो, क्या बात है ? क्यों आज इतनी प्रसन्न हो रही हो ?"

सतीजी उमड़ते हुए हृदय से बोलीं—"महाराज, कुछ पारितोषिक दें तो सुनाऊँ ?"

विश्वनाथ समुद्र की तरह शांत वाणी में बोले—'ऐसी कौन सी बात है ? किस बात का पारितोषिक ? बात बताओ ! चित्त को स्वस्थ करो। तुम तो फटी ही पड़ रही हो। कुछ सुनाओ भी तो।"

सतीजी सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर अत्यन्त ममता के साथ बोलीं—"देखिये, प्रजापतियों के भी अधिपति आपके पूजनीय श्वसुरजी एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। ये जो कल से आप आकाश में विमानों की पंक्ति की पंक्ति जाती हुई देख रहे हैं, ये सभी देव, उपदेव, लोकपाल, प्रजापति उसी यज्ञ में जा रहे हैं।"

इस बात को सुनकर भोले बाबा के मुख पर उत्सुकता, प्रसन्नता, विस्मय किसी के भी चिह्न दिखाई नहीं दिये। वे उसी प्रकार पूर्ववत् गम्भीर होकर उपेक्षा के स्वर में बोले—"यह तो संसार है। कहीं यज्ञ होता है, कहीं हा-हा हू-हू होती रहती है।"

यह सुनकर सतीजी के आश्चर्य का तो ठिकाना नहीं रहा। उनकी समस्त आशाओं पर पाला पड़ गया। समस्त उत्साह, उल्लास, शिथिल पड़ गया। वे भौचक्की-सी रह गईं। कुछ कोप का भी उदय हो उठा और पत्नीत्व के अधिकार के स्वर में बोलीं—"डण्डौत है; महाराज! आपके इस बाबाजीपने को। अपने निजी सम्बन्धी के इतने बड़े महामहोत्सव को सुनकर भी प्रसन्नता नहीं हो रही है। यज्ञ में भी चलने को आपका चित्त व्याकुल नहीं हो रहा है?"

शङ्कर फिर अपनी उसी गम्भीरता के स्वर में बोले—"सती जी! तुम भी बस, जसी की तैसी ही रहीं। बहुत से यज्ञ होते हैं संसार का काम है, यज्ञ-याग होना, उत्सव महोत्सव होते रहना। इसके लिये तुम इतनी चञ्चल क्यों हो रही हो?"

सतीजी ने माथा ठोकते हुए कहा—"हाय! मेरा भाग्य फूट गया। अरे, आपसे मैं क्या कहूँ? अपने पिता के घर का यज्ञ और अन्य सब यज्ञ एक से हो गये?"

सूखी हँसी हँसते हुए हर बोले—"तुमने भी क्या संसारियों के से सम्बन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। संसार में कौन किसका

पिता, कौन किसकी सन्तान ? सब भगवान् की माया है। प्रभु का पसारा है, जीव कर्माधीन होकर कर्म कर रहे हैं। राम-राम रटो, चुपचाप रहो। इस भ्रम को छोड़ो।"

सतीजी के दोनों नेत्रों में से झर-झर आँसू बहने लगे। अपनी साड़ी से आसुओं को पोंछती हुई बोलीं—"हे भगवान् इन बाबाजियों से पाला किसी का न पड़े। अब, आपके तो कोई माता-पिता है नहीं, पिता के घर के उत्सव में पुत्रियों को कितनी प्रसन्नता होती है, यह तभी समझा जा सकता है, जब या तो तुम किसी की पुत्री होते या तुम्हारे बहुत सी पुत्रियाँ होतीं। तुम ठहरे त्यागी वैरागी, तुम्हें इन बातों का क्या अनुभव। वहाँ कितना स्वर्गीय सुख होगा ? वहाँ जाने पर मेरा रोम-रोम किस प्रकार खिल जायगा, उसे इस अपूर्ण भाषा के द्वारा कैसे समझाऊँ। यह तो हृदय के अनुभव करने की बात है और भभूत रमाने वाले बाबाजी होते हैं हृदयहीन।

सतीजी की ऐसी बातें सुनकर सदाशिव हँस पड़े और बोले—"वहाँ जाकर तुम करोगी क्या ? तुम्हारे यहाँ किसी बात की कमी है ?"

सतीजी ने आँचल से अपना मुँह ढक लिया, रोती-रोती बोलीं—अच्छे महापुरुष से मेरा पाला पड़ा। देवता जी, संसार में यही तो स्त्रियों के लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है, पिता के घर उत्सव होगा। मेरी सब बहिनें पतियों के साथ आवेंगी। उन सबके साथ मैं मिलूँगी भेंटूँगी, मेरे सब बहनोई आवेंगे, उनसे आप मिलें भेंटे। मेरे पिता सबकी पूजा करेंगे मेरे साथ आपका भी सत्कार करेंगे। सबके साथ हमको भी भेंट और विदाई मिलेगी। तुम्हें अंगरखा, पाग दुपट्टा आदि वागेसिरोपा मिलेगी। मुझे लँहगा फरिया चोली आदि तीहर मिलेंगी। मेरी माँ देगी,

मौसी देगी, बहिन देगी। बहुत सी तीहरें बाँध-बाँध कर लाऊँगी।"

शिवजी ने बड़े जोरों से अट्टहास किया और बोले—"सती! यहाँ तो तुम नंगी ही रहती हो? यहाँ तुम्हें लहँगा फरिया, साड़ी, की सदा कमी पड़ी रहती है, जो उन्हें लेने बाप के घर दौड़ी जाओगी?"

सती ने आसूँ पोछते हुए कहा—"महाराज, आपकी कृपा से सब हैं, मुझे किसी बात की कमी नहीं। आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं, विश्वनाथ हैं, आठों सिद्धि हाथ जोड़े आपके सम्मुख खड़ी रहती हैं, किन्तु पिता के घर की तीहर पिता के घर की होती है। पिता एक चीज भी दे दे वह तो भी बहुत है। अब आपको कैसे समझाऊँ, कभी आपने पिता-माता से पाया हो, लड़की को दिया हो, तो आप समझें। वहाँ बहिनें, मौसियाँ सभी के दर्शन होंगे, अपनी स्नेहमयी माँ से हृदय लगा कर मिलूँगी। सबका प्रेम पाऊँगी। तुम कैसे रूखे हृदय के हो। तुम्हें सब सम्बन्धियों से मिलने की तनिक भी उत्कन्ठा नहीं होती।"

शिवजी ने कहा—"हम तो सबसे मन से मिले ही रहते हैं, हमें तो कोई आश्चर्य है न विस्मय। हम तो यही समझते हैं, सभी लोग प्रकृतिवश व्यवहार कर रहे हैं।"

पार्वतीजी कहा—"महाराज, आपको यदि आश्चर्य नहीं है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात भी नहीं, क्योंकि यह त्रिगुणात्मक आश्चर्यमय जगत् आप में अपनी माया से ही निर्माण किया हुआ भास रहा है, किन्तु दीनबन्धो, सब तो शिव नहीं हो सकते। मैं तो स्त्री हूँ, अभी मेरी नई अवस्था है। जब से आप मुझे ब्याह के लाये हो, तब से मैंने अपना घर नहीं देखा, सम्बन्धियों से नहीं

मिली जुली। वैसे कौन किसके यहाँ जाता है। किसी निमित्त से ही जाना होता है। सब से मिल भेंट लेते हैं, प्रसन्न होते हैं, फिर अपने-अपने घर चले जाते हैं। संसार का व्यवहार ऐसे ही चलता है। जिनके हम जाते हैं, वे हमारे आते हैं। तुम तो नंग धड़ंग ठहरे? कहावत है—'नंगी नहाय, निचोड़े क्या?' आपने तो व्याघ्र-चर्म-रूपी लोई ओढ़ली है। 'जिसने ओढ़ली लोई, उसका क्या करेगा कोई' किन्तु मैं ऐसी नहीं हूँ। मुझे भी तो अपने बाल-बच्चों के विवाह आदि करने हैं।"

यह सुनकर शिवजी हँसते हुए बोले—"सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा। अभी बाल न बच्चे, विवाह की भी चिन्ता करने लगी।"

सतीजी ने लजाते हुए कहा—"अब महाराज, नहीं है, तो क्या होंगे ही नहीं मेरे बाल बच्चे? कोई मेरी अवस्था तो निकल ही नहीं गई। 'जब तक साँसा तब तक आशा। आज नहीं कल। बच्चे होंगे तो उनका सब नेग जोग भी करना ही पड़ेगा।"

शिव ने बात टालते हुए कहा—"जब होंगे, तब देखा जायगा, यहाँ कुछ स्त्रियों की कमी थोड़े ही है. कितनी डाकिनी, साकिनी, भूतिनी, पिशाचनी, यक्षिणी, गुह्यकिनी, किन्नरी, किंपुरुषी आदि हैं। सब मिल-जुल के कर लेंगी।"

सती का क्रोध अब पराकाष्ठा पर पहुँच गया और रोष से लाल-लाल आँखें करके बोलीं—"बस, तुम्हें तो डाँकनी, साँकिनी, भूतिनी पिशाचिनी ही अच्छी लगती हैं। मुझे तो अपनी बहिनों भाञ्जियों को बुलाना है, भाजी बाहिना भेजना है। तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ।" सती बड़े जोरों से रुदन करने लगीं। उनका मुख लाल पड़ गया। आँसुओं के साथ काजर बहने लगा, जिससे

हथेलियाँ, कपोल, आँखों के अपांग सभी कुछ काले पड़ गये। वे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।"

तब शिवजी ने कहा—"अच्छा, बताओ! तुम मुझसे क्या चाहती हो?"

रोष में सतीजी ने कहा—"मैं चाहती हूँ पत्थर, जिससे अपना सिर फोड़ कर यहीं मर जाऊँ। इतनी देर से चिल्ला रही हूँ, अभी आपकी समझ में ही नहीं आया। देखो, ये सब देवाङ्गनायें कितनी सज-धज के, वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर, अपने-अपने पतियों के साथ विमानों में बैठी, कितने उल्लास के साथ यज्ञ में जा रही हैं। इनका उनसे कोई सम्बन्ध भी नहीं, तो भी ये प्रसन्नता में भर कर जा रही हैं, मेरे तो वे साक्षात् पिता हैं। फिर मुझे उनके यहाँ जाने की इच्छा न होगी? तुम्हें न हो तो न सही, मेरा भी तो आपको कुछ शील-संकोच करना चाहिये।"

शिवजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"तो, तुम मुझसे क्या चाहती हो?"

सतीजी ने कहा—"आप से यही चाहती हूँ, की आप भी जैसे ये सब अपनी-अपनी घर-वालियों के साथ जा रहे हैं, वैसे आप भी मुझे लेकर यज्ञ में चलें। देखो, कितने उल्लास से मैं आपके पास यह सुखद समाचार लेकर आई थी। मुझे आशा थी आप सुनते ही अपने भयंकर भूत पिशाचों को बुलावेंगे, उस बूढ़े बैल को बुलावेंगे। वह बाँ-बाँ करता दौड़ा आवेगा, उसे आप सजावेंगे, मुझे तैयारियाँ करने को कहेंगे। मैं अपनी सुरमादानी, सिंदूर की डिबिया, दर्पण, कंघी, तेल फुलेल, गहने कपड़े सब बाँध कर शीघ्रता से तैयार करूँगी। अपनी सारिका की सहेलियों को साथ लूंगी, आपके साथ प्रसन्न होकर चलूंगी। सो

आपने यह सब तो किया नहीं, उलटे मेरे सामने ज्ञान छांटने लगे। मेरी समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।"

शिवजी बोले—"अच्छा, ज्ञान की बात न कहूँ तो क्या अज्ञान की कहूँ ?"

सतीजी ने झुंझला कर कहा—"देखो ! अब मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ पैरों पड़ती हूँ, तुम्हारी ठोढी छूती हूँ, अब हँसी बहुत हो गई। अब सीधी-साधी बात करो, मुझे अपन साथ ले चलो। बड़ी इच्छा है, वहाँ जाने की ?

शिवजी ने दृढ़ता से कहा—"सती ! तुम चाहें एं करो चाहें चें करो। मैं तुम्हारे बाप के घर नहीं जाऊँगा। नहीं जाऊँगा।"

अब तो सती के कान खड़े हुए। कुछ दाल में काला है। गहरा कारण है। आँसू पोंछकर वे सम्हल कर शिवजी के सामने बैठ गईं और अपना पत्नीत्व का अधिकार प्रदर्शित करती हुई बोलीं—अब उनके स्वर में मृदुता थी। अधिकार के स्वर में सरलता से पूछने लगीं—"न चलने का कुछ कारण भी तो होना चाहिये। बताइये क्यों न चलेंगे ?"

शिवजी ने कुछ प्रेम के व्यंग में कहा—"आई हैं बड़ी हेज वाली बेटी बन के। 'वह बोलना भी न चाहे, ये उसके ऊपर चढी ही पड़ें।' तुम्हारे बाप को बुलाना था, तो निमंत्रण भेजते। सबके यहाँ निमन्त्रण भेजा, तुम्हारे यहाँ एक पीरी चिट्ठी भी नहीं भेजी। चार चावल भी नहीं भेजे, इस पर भी तुम जाने को मचल रही हो "मान न मान मैं तेरा महमान।"

सतीजी का मुख कुम्हिला गया। वे इस युक्ति के सामने सहम सी गईं। फिर अपने को सम्हाल कर बोलीं—"अब महाराज क्या पता निमंत्रण नहीं भेजा। आप भी तो यहाँ पृथ्वी के ओर छोर बरफ में आकर बैठे हैं। कोई आया भी होगा तो बरफ में

ठिठुर गया होगा—अथवा तुम्हारे इन औंधी खोपड़ी के भूत पिशाचों ने उसे आने ही न दिया होगा। या आ रहा होगा। ऐसा तो नहीं हो सकता, मेरे पिता मुझे भूल जायँ। वे तो मुझे मेरी सब बहिनों से बढ़कर प्यार करते हैं।"

शिवजी उपेक्षा के स्वर में बोले—"अजी हाँ, बड़ी बाप की लडैती बेटी हैं। हमें भली भाँति पता है, तुम्हारे बाप ने जान बूझकर तुम्हारे यहाँ निमन्त्रण नहीं भेजा है।"

सतीजी अपनी झेंप मिटाने को बोली—"अच्छा, मैं तुम्हारी ही बात बड़ी करती हूँ। मान लो, उन्होंने हमें नहीं बुलाया। उनकी भूल ही सही। उन्होंने किसी कारण से भूल की तो हमें भी भूल करनी चाहिए? देखिये, शास्त्रकारों ने बताया है कि पति के यहाँ, माता-पिता के यहाँ, अपने सुहृद् मित्र तथा भायेली सहेलियों के यहाँ बिना बुलाये भी चले जाना चाहिये। अपने पति हैं, किसी कारण से रूठ गये हैं, माई के यहाँ से लेने नहीं आते, तो पत्नी को हठ नहीं करनी चाहिए, कि वे बुलाने आयेंगे, तभी मैं जाऊँगी। उसे स्वयं चले आना चाहिए। अपना घर ही है, घर की स्वामिनी को किसके बुलाने की अपेक्षा है। अपने गुरु हैं, नहीं बुलाया, तो न सही, स्वयं उनके यहाँ विवाह, उत्सव, समारोह हो तो पहुँच जाना चाहिए। माता-पिता हैं, भूल गये, असन्तुष्ट हो गये या कोई और कारण हो गया, उन्होंने न बुलाया तो लड़की स्वयं भी चली जाय, तो कोई दोष नहीं। इसी प्रकार अपनी भायेली सहेली हैं, उनके यहाँ कोई काम-धन्धा हुआ, त्योहार बार या उत्सव समारोह हुआ, तो अपने आप पहुँचना चाहिए और जाकर कहे—"जीजी! राम-राम, लो तुमने तो हमें बुलाया नहीं, हम स्वयं ही आ गई। अब हमें कोई काम बताओ, इस प्रकार जाने में स्नेह और बढ़ता है। वे भी समझते

हैं—देखो, ये कितने हमसे स्नेह रखते हैं। सो, वे तो मेरे देह के जनक हैं। उन्होंने नहीं बुलाया, तो हमें स्वयं जाना चाहिए। अब मुझे बहुत लज्जित मत करो। आप तो आशुतोष हैं, एक चुल्लू जल से ही प्रसन्न हो जाते हो। मैं तुम्हारे ऊपर अपने घर पहुँच कर घड़ों जल चढ़ाऊँगी, तुम्हें अपनी बहिनों से तर करा दूँगी। अब हठ को छोड़ दो। तुम्हारे लिए क्या मानापमान। तुम तो भोलेनाथ ठहरे। यद्यपि तुम्हारे इन साँप और जटा-जूटों से मेरी बहिनें मुझे बहुत चिढ़ायेंगी परन्तु मैं सब सह लूँगी। यदि वे मुझे बहुत तंग करें, तो तुम अपने साँपों को तनिक संकेत कर देना कि वे फुफकार मार दें। जहाँ साँपों ने फुफकार मारी कि सब भाग जायँगी।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार सतीजी ने बड़े स्नेह से शिवजी को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु वे जाने को तैयार नहीं हुए।"

छप्पय

सती प्रेम युत कहहिं—प्रभो! मति ज्ञान सिखाओ।
मोइ संग ले चलो नाथ! पितु यज्ञ दिखाओ॥
दीना हूँ अति विभो! व्यर्थ अब मत बहकाओ।
चलो बैल पै चढ़ो मोइ हर! पकरि चढ़ाओ॥
शिव बोले—नहिँ निमन्त्रण, कस जावैं भामिनि! सुनो।
छोटी बेटी बाप की, व्यर्थ लड़ँती तुम बनो॥

शिवजी का सतीजी को समझाना

[१६१]

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥*
(श्री भा० ४ स्क० ३ अ०, १५ श्लो०)

छप्पय

बात सत्य है पिता मित्र गुरु घर बिनु बोले ।
जावे यदि वे निरखि नेहतें हियकूँ खोलें ॥
दोष दृष्टितें देखि रोषवश मुँह मटकावें ।
तिनके घरमहँ भूलि कबहुँ नहिँ सज्जन जावें ॥
सती ! तुम्हारे बाप नें, कहनी अनकहनी कहीं ।
सब के सम्मुख सभामहँ, भली बुरी गारी दईं ॥

ऐसा नियम है, कि पतिप्राणा स्त्रियाँ पहले तो अपने पति से

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! शिवप्रिया सती के इस प्रकार प्रार्थना पर, सज्जनों के प्रिय भगवान् शकर को प्रजापति दक्ष के वचन स्मरण हो आये, जो उन्होंने यज्ञ में—प्रयागराज में—सम्पूर्ण प्रजापतियों के समक्ष कहे थे । जो वाक्‌वाण अत्यन्त ही मर्म भेदी थे ।"

कोई हठ करती नहीं, यदि किसी बात पर वे अड़ जायँ, तो वे उसे बिना किये छोड़ती नहीं। इसी का नाम है त्रिया हठ। स्त्रियाँ जितनी ही दयावती, मायावती कोमलाङ्गी तथा सरला होती हैं, यदि वे क्रुद्ध हो जायं, तो उतनी ही कर्कशा, चंडी, उग्रा और क्रूरा बन जाती हैं, फिर वे आगा पीछा नहीं सोचतीं। सीताजी के मस्तिष्क में जहाँ यह बात आई कि यह लक्ष्मण श्रीराम के दुःख में मेरे कहने पर भी नहीं जाता, तो उन्होंने रोष में भर कर ऐसे-ऐसे कुवाच्य उन महात्मा को कहे, जिन्हें साधारण स्त्रियाँ भी कहने में हिचकेंगी। द्रौपदी ने अपने अपमान करने वालों के प्रति जो रोष किया, वह जीवनपर्यन्त गया नहीं। उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक जो अपने केश खोले, वे तभी बांधे जब उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई अपमान करने वालों की स्त्रियों के जब केश खुल गये, अर्थात् वे जब सब विधवायें हो गईं। श्रीसतीजी का शिवजी कितना स्नेह करते थे, उन्हें अपनाया ही नहीं, अपितु अपने शरीर का आधा अंग ही उन्हें दे दिया। विवाह के पश्चात् ही भगवान् अर्धनारी नटेश्वर हो गये। उनके आधे अंग में सतीजी सदा रहती थीं। जब उन सतियों में शिरोमणि सती देवी को यह निश्चय हो गया कि ये शिव मुझे व्यर्थ ही पिता के घर जाने से रोक रहे हैं, तब तो उनके कोप का ठिकाना नहीं रहा। वे अपने पितृगृह के स्नेह के वशीभूत होकर शिवजी की आज्ञा की अवहेलना करने को भी तत्पर हो गईं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब सतीजी ने शास्त्र का मत बताकर यह सिद्ध किया कि अपने माता-पिता के घर, सुहृद् और मित्रों के घर बिना बुलाये भी चला जाना चाहिये, तो इसे सुनकर शिवजी हँसे और बोले—"दक्ष कुमारी! अब तुम मुझे शास्त्र सिखाने लगीं। शास्त्रों के मत को मैं भी

जानता हूँ, सब शास्त्र मेरे ही बनाये हुए हैं। तुम जो कह रही हो, कि इतने लोगों के यहाँ बिना बुलाये भी चले जाना चाहिये यह ठीक है, किन्तु कब चला जाना चाहिये ? जबकि वे हमें देखते ही खिल उठें, उनका रोम-रोम प्रसन्न हो जाय, स्नेह से गद्गद कर मिलें। ऐसी दशा में बिना बुलाये भी जाने से बड़ा स्नेह बढ़ता है, किन्तु जो हमें देखते ही मुँह बना लें, गाल फुला लें, भयानक आकृति बना लें, हमसे बोलें भी नही उठकर चले जायँ मन में सोचें यह कहाँ से आ गया ऐसे लोगों के यहाँ बिना बुलाये कभी भूल से भी न जाना चाहिये, फिर वे कोई भी हों।"

सती ने चिढ़कर कहा—"यहाँ कैलास में बैठे-बैठे आपने यह कल्पना कर ही कैसे ली, कि मेरे बाप आपको देखते ही अप्रसन्न हो जायँगे। मैं तो समझती हुँ, वे मुझे देखते ही रो पड़ेंगे, अपने आँसुओं से मेरे सब बालों को भिगो देंगे, मेरा माथा सूँघेंगे, आपका सत्कार करेंगे। तुमने मेरे पिता को ऐसा ही ऐरा गैरा पच कल्यानी समझ रखा है क्या ? वे बड़े विद्वान हैं, तपस्वी हैं, धनी हैं सुन्दर शरीर वाले हैं, देवताओं की भाँति सदा युवा रहते हैं, और श्रेष्ठ कुल में उनका जन्म हुआ है, साक्षात् लोक पितामह ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। वे आपका अपमान क्यों करेंगे ?"

शिव ने कहा—"देवि ! तभी तो मैं कहता हूँ, तुम मेरी अर्धाङ्गिनी होने पर भी स्त्री ही हो। देखो तुमने जो ये विद्या, तप, धन, सुन्दर नीरोग शरीर युवावस्था और कुलीन, छः गुण अपने पिता में बताये हैं मैं मानता हूँ, कि ये सब श्रेष्ठ गुण हैं, और वे तुम्हारे पिता में विद्यमान हैं, किन्तु देवि, दूध तो अमृत है, उसे ताँबे के पात्र में रख दो विष ही जायगा। गङ्गाजल तो संसार में सर्वश्रेष्ठ पेय हैं, वही समुद्र में मिलने से अपेय हो जाता है। घृत तो तेज है, ओज है, उसे ही बराबर मात्रा में शहद मिला

दो, विषवत् बन जायगा। इसी प्रकार ये गुण यदि खल पुरुषों में आ जायँ तो उनके अभिमान को और भी अधिक बढ़ाकर उनकी बुद्धि को नष्ट कर देंगे—वे महापुरुषों के सम्मुख अकड़ कर कहेंगे, 'हम क्या किसी से कम हैं, हमारी बराबर का कौन है ?' इस प्रकार वे महापुरुषों का सदा अपमान करेंगे। ऐसे अव्यवस्थित चित्त वाले लोगों के समीप न तो जाना ही चाहिये और न यही समझना चाहिये, ये हमारे बन्धु-बान्धव हैं, हमारा अपमान न करेंगे।"

सती का मुख लाल पड़ गया और कुछ कुपित होकर बोलीं—"महाराज, आप बहुत कड़ी-कड़ी बातें मुझे सुना रहे हैं, मेरे बाप को खल बता रहे हैं। आपका उन्होंने कब अपमान किया ? आपको उन्होंने कब खरी-खोटी सुनाई ? आपको तो वे समस्त देवताओं में सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, ऐसा न समझते तो मैं उनकी सबसे छोटी सबसे प्यारी लड़की थी, मेरा विवाह आपके साथ क्यों करते ?"

शिवजी यह सुनकर खिल-खिलकर हंस पड़े और बोले—"देवीजी ! सच-सच बता दूँ, तुम बुरा तो न मानोगी ? देखो, पहिले मुझे वे भले ही देवाधिदेव महादेव समझते रहे हों, किन्तु जब से उन्होंने मेरे साथ तुम्हारा विवाह कर दिया है, तब से उनका अभिमान और बढ़ गया है। वे अभिमान में भरकर कहते हैं—शिव मेरा दामाद है।"

सतीजी बोलीं—"तो क्या झूठ कहते हैं, तुम नहीं हो उनके दामाद ?"

शिवजी बोले—"अब तुम स्वस्थ चित्त होकर पूछो तो इन बातों का उत्तर दूँ भी। तुम्हारी नाक पर तो आँसू रखे हैं, बात बात पर टप्प-टप्प आँसू बहा रही हो। क्रोध तुम्हारे रोम-रोम

में व्याप रहा है, आँखें तुम्हारी लाल हो रही हैं, मन तुम्हारा बाप के यज्ञ में पहुँच गया है, चित्त तुम्हें यहाँ से जल्दी चलने को कह रहा है. अब तुम्हें कुछ समझाऊँ भी तो वह व्यर्थ होगा। तुम्हारे बाप ने मेरे साथ कैसा बर्ताव किया है, उसे कहना नहीं चाहता। इसीसे उसके सामने जाना नहीं चाहता। तुम जानती ही हो, मैं रुद्र हूँ। मुझे कहीं क्रोध आ जायगा, तो तुम्हारे बाप का यज्ञ सब धरा का धरा ही रह जायगा इसलिये यहीं बैठकर राम-राम जपो। इस हठ को छोड़ दो मेरे कहने से।"

सतीजी ने हठपूर्वक कहा—"नहीं, मैं नहीं उठूँगी। तुम मेरे पिता पर व्यर्थ में ही दोषारोपण कर रहे हो। बता दो, उन्होंने कब तुम्हारा अपमान किया ?"

शिवजी बोले—"देखो यह बात पुरानी हो गई है, उसकी आवृत्ति करके उसे फिर से नई मत बनाओ। यदि तुम पूछती ही हो, तो बताता हूँ। प्रयागराज में प्रजापतियों के यज्ञ में सबके सामने तुम्हारे बाप ने कहनी अनकहनी भली बुरी बातें मुझसे कही थीं। मेरी तो कोई बात नहीं, किन्तु यह वाणी रूपी बाण का घाव ऐसा तीक्ष्ण होता है कि, बाण का घाव तो समय पर पुर जाता है, किन्तु यह वाक् बाण का घाव कभी नहीं पुरता। हृदय में सदा कसकता रहता है। देखो, एक दृष्टान्त सुनो।"

एक वन में एक बुद्धिमान सिंह रहता था। एक गरीब ब्राह्मण दरिद्रता के दुःख से दुखी होकर आत्म-हत्या के लिये वन में गया और अपने आप मरने के लिये सिंह के सम्मुख खड़ा हो गया। सिंह ने सोचा—"यह ब्राह्मण डरता नहीं, अपने आप मरना चाहता है, इसमें अवश्य कोई कारण है।" यह सोचकर सिंह ने उससे कारण पूछा। उसने अपनी दरिद्रता का सब कारण बताया। सुनकर सिंह को दया आ गई। उसने कहा—

"देख, अमुक स्थान पर इतना धन है, उसे ले जा। अब जब भी धन की आवश्यकता हुआ करे, मुझसे ले जाया करना।" यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ। धन लेकर चला गया। अब उसे जब भी धन की आवश्यकता होती, सिंह से आकर ले जाता। एक दिन वह आया तो वहाँ सिंह नहीं था। एक महात्मा आ निकले। महात्मा ने पूछा—"भाई, यहाँ क्यों बैठे हो?" दरिद्र ब्राह्मण ने कहा—"महाराज, यहाँ एक मूर्ख सिंह रहता है। उसे मैंने ऐसा उल्लू बनाया है, कि मेरे वश में हो गया है। जब भी मुझे धन की आवश्यकता होती है उससे ले जाता हूँ।" झाड़ी की ओट से सिंह सब बातें सुन रहा था। उसके हृदय में इन शब्दों को सुनकर बड़ा घाव हो गया, कि मैं दयावश इसे देता हूँ। यह समझता है—मैंने मूर्ख बनाया है। अच्छी बात है। सिंह आया, आज वह धन नहीं लाया, एक कुल्हाड़ी साथ लाया। उस ब्राह्मण से बोला—"इन कुल्हाड़ी को मेरे कन्धे पर मारो।"

ब्राह्मण डर गया, उसके हाथ काँपने लगे। यह देख कर सिंह बोला—"नहीं नहीं, तुम डरो मत, मारो अपने सम्पूर्ण बल से। ब्राह्मण डरा हुआ था, उसने कुल्हाड़ी मारी। सिंह के कन्धे में बड़ा भारी घाव हो गया, रक्त बहने लगा। तब सिंह ने कष्ट से कहा—"आज चले जाओ, एक महीने के पश्चात् फिर आना।"

ब्राह्मण चला गया। उसकी समझ में कुछ बात न आई। एक महीने पश्चात् ब्राह्मण फिर गया। सिंह ने बुलाकर कहा—"तुमने कुल्हाड़ी मारी थी, उसका घाव अब है?" ब्राह्मण ने कहा—"अब तो नहीं है, अच्छा हो गया।"

सिंह बोला—"कुल्हाड़ी का घाव तो अच्छा हो गया, किन्तु

तेंने जो उन महात्मा के सम्मुख मेरे लिए कुवाक्य कहे थे, उनको सुनकर मेरे हृदय में जो घाव हुआ था, वह अभी अच्छा नहीं हुआ। अब तू ब्राह्मण है, तेरी हत्या तो क्या करूं? जा, भाग जा। अब फिर मेरे पास न आना। कहीं मुझे अपने स्वभाववश क्रोध आ गया; तो तेरा कल्याण नहीं है। इतना सुनते ही ब्राह्मण वहाँ से भाग गया।"

सो, सती देवी! ब्राह्मण समझकर मैंने तुम्हारे बाप को क्षमा कर दिया, नहीं तो उन्होंने जैसी बातें कहीं थीं, उन्हें सुनकर यदि मैं कोप करता, तो उनकी सब चौकड़ी भूल जाती। प्रजापतियों के पति बनने का सब अभिमान तिड़ी हो जाता। वहीं टें कर जाते, मैं उन बातों को भूल गया था। आज तुमने उन्हें फिर से हरा कर दिया। देखो, तुम्हारे बाप ने जान बूझकर हमें निमन्त्रण नहीं भेजा है। यही नहीं, यह यज्ञ हमें नीचा दिखाने को ही किया जा रहा है। यज्ञ की तो आड़ मात्र है। हमें जाति-पाँति से पृथक् करना, अपना प्रभाव प्रदर्शित करना—यही इस दम्भ यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है।"

सतीजी ने कहा—"बात तो बताते नहीं, कुवाच्य-कुवाच्य कह रहे हैं। क्या कुवाच्य कहें? मेरे पिता ऐसे तो हैं नहीं, कि आ बैल मुझे मार। तुमने भी कुछ कहा होगा। कोई न कोई बात होगी। उसे आप छिपा रहे हैं। नहीं तो पिताजी की मैं सबसे प्यारी पुत्री हूँ।"

शिवजी ने कहा—"प्रिये! मैं जानता हूँ, तुम पिता की अत्यन्त प्यारी पुत्री हो, किन्तु तुम्हारा सम्बन्ध तो मुझसे हुआ है। मुझे वे अपना शत्रु समझते हैं। शत्रु का मित्र भी शत्रु ही होता है। मैंने कुछ उनका बिगाड़ा थोड़े है, उनका धन छीन लिया हो या उनके डाका डाला हो। व्यर्थ ही द्वेष मानते हैं।

कुछ लोग ऐसे खल प्रकृति के होते हैं, कि वे महापुरुषों की समृद्धि देखकर अकारण ही जलने लगते हैं, उनका हृदय व्यर्थ ही व्यथित होने लगता है। द्वेषवश ही इन्द्रियाँ सन्तप्त होती रहती हैं। उनकी पदवी को तो वह प्राप्त कर नहीं सकते। केवल ईर्ष्या के कारण उनकी निन्दा ही किया करते हैं। विष्णु भगवान् ने हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष का क्या बिगाड़ा था? किन्तु वे अकारण उनसे द्वेष करते थे।"

सतीजी बोलीं—"प्रभो! आप अब बड़े हैं, चाहे जो कह लें, मेरे पिता की हिरण्यकशिपु से उपमा दे रहे हैं। तुमसे वे क्यों अप्रसन्न हैं? आपकी समृद्धि को देखकर वे जलते हों, सो आपकी समृद्धि संसार जानता है। इन विषैले सांपों को लेकर कोई क्या करेगा? सब लोग घोड़ा हाथी ऊँट पालकी पर चढ़ते हैं। आपकी सवारी बैल है। कुछ भीतरी बात है, उसे आप नहीं बता रहे हैं।"

भगवान् शिव बोले—"देखो, भीतरी बाहरी कोई बात नहीं। बात इतनी ही थी—वे सभा में आये, सब लोग उठ पड़े, मैं नहीं उठा। इसी पर आगबबूला हो गये!"

सतीजी शीघ्रता से बोलीं—"तो, यों क्यों नहीं कहते कि मैंने स्वयं ही पहिले उनसे छेड़-छाड़ की सब उठ पड़े तो आप भी उठ पड़ते। कैसे भी हों, हैं तो मेरे पिता ही। जब मेरे पिता हैं, तो आपके भी पिता के सदृश हुए। उठ ही पड़ते तो आपका क्या घट जाता, कौन से आपके लाल झड़ जाते?"

शिवजी स्नेह से बोले—"देखो, दक्षकुमारी सती, तुम समझती नहीं। मुझे उठने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु पहिले तुम उठने का तात्पर्य समझ लो—उठा क्यों जाता है? बड़ों को देख कर शीघ्रता से उठकर उनके सम्मुख जाना, अंजलि बाँधकर सिर

नीचा कर लेना, पैर छूना, प्रणाम करना, उनके पीछे-पीछे चलना—ये सब सत्कार करने के ढंग हैं। शिष्ट पुरुषों के आचार हैं, किन्तु यह आने वाले व्यक्ति की देह के सत्कार नहीं है। उसके अन्तःकरण में जो विराजमान श्रीहरि हैं—जिनके प्रकाश के कारण वे प्रकाशित हैं—उनके ही लिये ये सब आदर प्रदर्शित किये जाते हैं। इस नाशवान् क्षणभंगुर शरीर का क्या सत्कार। इसीलिये उनके भीतर जो भगवान् बैठे थे, उनके लिये मैंने मन ही मन प्रणाम कर लिया था। उनका आदर मैंने हृदय से किया था। वे मेरे हृदय में भी सदा बने रहते हैं। उनका मैं अपने हृदय में प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ।"

सतीजी ने कहा—"महाराज, अपना अपराध कोई स्वीकार नहीं करता। दूसरे के तिल भर दोष भी पहाड़ के सदृश दिखाई देते हैं और अपने पहाड़ के समान भी दोष नहीं दीखते। दूसरों की आँखों में एक काली रेखा भी हो तो दीख जाती है। अपनी आँखों में चाहे कपोलों तक काजर पुता रहे, तो भी नहीं दीखता। अच्छा, सर्वान्तिर्यामी श्रीहरि का ही आदर सही, जब तुमने मन ही मन उनके हृदय में निवास करने वाले सर्वान्तिर्यामी को प्रणाम किया, तो तुम्हें उठने में क्या आपत्ति थी, उठकर खड़े हो जाते। उनका भी मन रह जाता, तुम्हारा भी कुछ न बिगड़ता।"

शिवजी ने कहा—"देवि! तुम्हारे हृदय में तो अब पिता के प्रति पक्षपात उत्पन्न हो गया है। मैं सीधी भी बात कहूँगा, तो तुम्हें उल्टी लगेगी। देखो, जो भक्त हैं, उनके हृदय में तो भगवान् प्रकाशित रहते हैं। उन्हें उठकर प्रणाम करो तो भगवान् तत्क्षण प्रकट होकर बीच में खड़े हो जाते हैं। भक्त भी सब को देखकर नत हो जाता है, किन्तु जो देहाभिमानी हैं, उनके अन्तर्यामी ढके

जाते हैं, उनको उठकर प्रणाम करने से उनका अभिमान और बढ़ जाता है, अतएव उनको मन से ही प्रणाम करना चाहिये। इसलिये मैंने उनके अन्तर्यामी वासुदेव को मन से नमन कर लिया था।"

सतीजी बोलीं—"देखो, तुम बड़े हो, समर्थ हो। उन सब बातों को अब भूल जाओ। वे मेरे पूजनीय पिता हैं, मैं उनकी प्यारी पुत्री हूँ। तुम मेरे साथ चलो, मेरे साथ रहने से वे अब कुछ न कहेंगे। बड़े लोगों को इस प्रकार घरवालों की बातों पर ध्यान न देना चाहिये। कैसे भी हों, आपके श्वशुर हैं, बड़े हैं, बड़ों की दो बातें सुन भी लेनी चाहिये।"

शिवजी ने कहा—"देखो, मुझे चलने में कोई आपत्ति नहीं। मैं तो भूल ही गया था, किन्तु मेरे भूलने से क्या होता है, तुम्हारा अभिमानी बाप तो नहीं भूला है। उसके हृदय में तो द्वेषाग्नि भड़क रही है। यदि मैं वहाँ गया और उसने फिर वही तीन पाँच लगाई, तो तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो। उसके समस्त परिवार का कल्याण नहीं। तुमने बहुत आग्रह किया, तो मैंने ये बातें बता दीं, नहीं तो मैं तो भुला ही चुका था।"

सतीजी ने कहा—"अच्छा, जाने दो। मैं तो तुम्हारा स्वभाव जानती हूँ, बड़े हठी हो। एक बार जो तुम्हारे मुँह से निकल गया, फिर उसे पूरा ही करके छोड़ते हो। अच्छा, मुझ अकेली को ही भेज दो। तुम अपने ससुर जमाई लड़ते-भिड़ते रहो। मुझे क्यों बीच में डालते हो। मेरे वे जनक हैं, आप पति हैं। दोनों में से किसी के प्रति भी मैं अश्रद्धा नहीं कर सकती।"

भगवान् भोलेनाथ बोले—"सती! तुम समझती तो हो नहीं! तुम्हारी बुद्धि पितृ-स्नेह से मूढ़ बन गई है। देवी! तुम चाहे उनकी कितनी भी प्यारी पुत्री हो, फिर भी दक्ष मेरे सम्बन्ध से

तुमसे भी द्वेष करता है। इसलिये वहाँ जाने की बात तो अलग रही, तुम्हें उसे देखने का भी विचार न करना चाहिये। यदि अपनी हठ पर अड़ीं और मेरी बात न मान कर वहाँ चली ही गई, तब समझ लो फिर कल्याण नहीं, कुशल नहीं।"

सतीजी ने बड़ी दीनता से कहा—"देखो, प्राणनाथ! मेरी आशा पर पानी मत फेरो। मेरे मनोरथों को निर्दयता के साथ मत कुचलो। आशुतोष! इतने निष्ठुर मत बनो दया सागर! दासी का दुःख देकर दयनीय दशा में मत डालो। हे अशरण शरण! मुझे मेरे परिवार वालों से उल्लास और उत्सव के अवसर पर पृथक् मत करो। मैं तुम्हारी चिरसेविका हूँ, अनुरक्ता भक्ता हूँ। हे प्राणेश्वर, मुझ पर कृपा करो।"

जब सती जी इस प्रकार अधीर होकर प्रार्थना करने लगीं, तब कुछ झुंझलाहट के साथ भगवान् सदाशिव बोले—"बस, अब बहुत हो गया। मैंने तुम्हें सब ऊँच नीच समझा दिया। इतने पर भी तुम्हारी समझ में नहीं आता, तो तुम्हें जो दीखे, सो करो। अब मुझसे पूछने की कोई बात नहीं है। तुम्हारी इच्छा है, रहो या जाओ।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी, इतना कहकर शिवजी चुप हो गये। वे आँखें बन्द करके राम-राम जपने लगे।"

छप्पय

सती कहें तुम कृपासिन्धु योगेश्वर ज्ञानी।
वेद न पावें भेद पाहि फिर कस अभिमानी॥
थूको जो कछु भई गइ कूँ नाथ बिसारो।
पिता यज्ञ ले चलो, आसरो एक तिहारो॥
शम्भु कहें—'दाक्षायणी! त्यागो हठ हरि-हरि भजो।
हौं कबहूँ नहिं जाउँगो, जिह आशा मोतें तजो॥

सतीजी का पितृ-गृह-गमन

[१६२]

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तम्,
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान् ,
प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात् सतां प्रियः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

समझाई शिव सती बहुत विधि तऊ न मानी।
भई बुद्धि विपरीत विश्वपति हिय महँ जानी॥
पितृ-नेह इत शम्भु रुष्टता को भय भारी।
फिरि-फिरि आवें जाइ, हिँडौले सरिस विचारी॥
सर्पिनि सम निश्वास ले, कँपे देदे विह्वल भईं।
आँखिनि महँ आँसू भरे, सती अनमनी ह्वै गईं॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! जिन सतीजी को सत्पुरुषों की गति, भगवान शिव ने प्रेमवश अपना आधा अंग ही दे दिया है, अर्थात जो सतीस्नेह से अर्धनारी नटेश्वर बन गये हैं, उन्हें छोड़कर वे दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुईं मना करने पर भी पिता के घर अकेली ही चल दीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शोक और क्रोध से खिन्न हो गया था तथा स्त्रीस्वभाववश उनकी बुद्धि भी विमूढ़ बन गई थी।"

जब हृदय में प्रबल कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उस समय मनुष्य अपने प्रधान कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। वासना हृदय को मथ डालती है। वासना के हृदय में होते ही उसे पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। जो उसकी पूर्ति में बाधा देते हैं, वे प्रिय जन होने पर भी बुरे लगते हैं। श्रद्धेय होने पर भी उनके प्रति अश्रद्धा हो जाती है। सम्माननीय होने पर भी उसकी अवहेलना की जाती है। कामना की सिद्धि में विघ्न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। जहाँ हृदय में क्रोध आया कि तत्क्षण बुद्धि सम्मोह में फंस जाती है। सम्मोह में फंसी बुद्धि की वही दशा होती है जो गहरे दलदल में फंसी गौ की होती है। बुद्धि अपने सद्-असद् के विवेक को खो बैठती है। जहाँ बुद्धि भ्रष्ट हुई वहाँ मनुष्य पतन के पथ की ओर अग्रसर होने लगता है। उसका सर्वनाश निश्चित है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् शंकर ने सतीजी को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु उनके मन में एक भी बात नहीं बैठी। जब शिवजी ने उपराम होकर नेत्र बन्द कर लिये, तब तो सतीजी के रोष का ठिकाना नहीं रहा। मारे क्रोध के उनके ओठ फरकने लगे, आँखों में से अंगार निकलने लगे। उन्हें शान्त करने को मानों कोई भीतर पानी उँड़ेल रहा हो, किन्तु वे अंगारे शान्त नहीं होते थे। पानी आँखों की कोर से व्यर्थ बनकर निकल जाता था। चित्त बड़ा ही चंचल हो गया, सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँपने लगा। शिवजी समझ गये कि सती के विनाश का काल निकट आ गया। उन्होंने सोचा—"यदि मैं ऐसी दशा में इसे बलपूर्वक रोकता हूँ, तो अब तो इसने चण्डी का रूप धारण कर रखा है, मेरे रोकने पर वह अवश्य ही यहीं आत्म-हत्या कर लेगी और वहाँ जायगी, तो भी इसका मरना

निश्चित है, क्योंकि वहाँ इसका अपमान होगा। मनस्वी पुरुष अपमान की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ समझते हैं। जब दोनों ही प्रकार इसको मृत्यु निश्चित है, तो हम अपने सिर हत्या क्यों लें। वहीं अपने बाप के सम्मुख मरे। इसलिये उन्होंने फिर न तो यह कहा, कि जाओ और न यही कहा कि मत जाओ।

सतीजी का मन किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया। वे निश्चय न कर सकीं कि मुझे जाना चाहिये या न जाना चाहिए, किन्तु चित्त तो परिजनों से मिलने को उतावला हो रहा था, अतः सोचा—चलो शिवजी तो ऐसे कहते ही रहेंगे। यह सोचकर वे अकेली ही पिता के घर चल दीं। थोड़ी दूर गईं और सोचने लगीं—सती स्त्रियों का तो यह धर्म नहीं, कि पति की आज्ञा के विरुद्ध बर्ताव करें। रहना तो मुझे जीवन भर इसी घर में है। पिता के यहाँ तो दो दिन की धूम-धाम है। इस प्रकार पति परमेश्वर को रुष्ट करके जाना ठीक नहीं। इस विचार के आते ही वे लौट आईं। आकर थोड़ी देर खड़ी हुईं। इतने में ही ८-१० विमानों की टोली फिर नूपुरों की झंकारों से दिशाओं को झंकृत करती हुई ऊपर से उड़ गई। अब फिर सतीजी का चित्त चंचल हो उठा। हाय! जिनका मेरे पिता से कोई सम्बन्ध नहीं, ये सब लोग कितने ठाट-बाट से सज-बज कर जा रहे हैं, मैं उनकी सगी पुत्री और जाने की प्रबल इच्छा होने पर भी नहीं जा रही हूँ, ऐसी भी क्या परतन्त्रता। पुरुषों को जब कोई इच्छा होती है, तो स्त्रियों के लाख मना करने पर भी वे नहीं मानते, तब स्त्रियों को भी अधिकार है, कि वे आत्मा का हनन न करें। मैं कोई पाप कर्म तो कर ही नहीं रही हूँ, किसी अन्य के घर तो जा ही नहीं रही हूँ, पिता के ही घर जा रही हूँ। स्त्रियों को दो ही तो आश्रय हैं या तो पति का घर या पिता का घर, ऐसे अवसर पर मुझे किसी भी प्रकार

रुकना नहीं चाहिये। यह सोचकर वे फिर चल दीं, थोड़ी दूर गईं। फिर उनके मन में आया—शिव कहीं रुष्ट हो गये और कह दिया—'अब हमारे यहाँ पैर भी न रखना।' तब तो मैं कहीं की भी न रहूँगी। इन भोलेनाथ को ऐसा करना कोई कठिन काम भी नहीं। वैसे ही हजारों वर्षों की समाधि लगा जाते हैं। ये तो आप्तकाम हैं, मुझे ऐसी चंचलता शोभा नहीं देती। यह सोचकर फिर लौट आईं। लौटकर देखती हैं, घर उन्हें अपना प्रतीत नहीं होता, वहाँ की सभी वस्तुएं उन्हें काटने दौड़ रही हैं। उनका मन सर्वत्र शून्यता का अनुभव कर रहा है। हृदय को मानों कोई बलपूर्वक ऐंठ रहा है। शिवजी पर आज सती को रोष आ रहा है। इनको आज हो क्या गया है। एक चुल्लू जल से, दो आक के फूलों से, एक बिल्व पत्र से ही प्रसन्न हो जाने वाले शिव आज निष्ठुर क्यों बन गये हैं। अच्छी बात है,ये निष्ठुर बने रहें 'मैं तो जाऊंगी ही, पिता ने नहीं बुलाया—कोई बात नहीं। उन्होंने द्वेष ही वश न बुलाया होगा, तो अब मेरे जाने से बात सध जायगी। कोई न जानेगा। यदि इस अवसर पर भी न पहुँची, तो बात चारों ओर फैल जायगी। सबके मुँह पर यही बात रहेगी—सती क्यों नहीं बुलाई गई? जितने मुँह उतनी ही बातें बन जायंगी, कोई कुछ कहेगा कोई कुछ। बात का बतंगड़ हो जायगा। सुई का सेल बन जायगा। फिर सदा के लिये आना जाना बन्द हो जायगा, दोनों ओर से गहरी खाईं खुद जायगी, पत्थर की लकीर हो जायगी। फटे हुए मन और भी फट जायंगे, फिर उनका जुड़ना असम्भव हो जायगा। फटा हुआ कपड़ा किसी तरह कौशल से सीकर जोड़ा जा सकता है। टूटी हुई धातुएं अग्नि में तपाकर किसी तरह फिर से तो मिलाई जा सकती हैं, किन्तु अत्यन्त तीव्रता से फटा हुआ मन फिर नहीं मिल सकता।

मन मोती अरु दुध कों, इनको यही स्वभाव।
फाटे पीछे न मिलें, कोटिन करो उपाय॥

इसलिये मैं बात को बढ़ने न दूंगी। ये तो हठी हैं. जब इन्हें कोई सनक सवार हो जाती है, तो फिर सुनते ही नहीं। हठ के पक्के हैं, ये नहीं चलते तो कोई बात नहीं, मैं भी तो घर को स्वामिनी हूँ, मेरे भी तो कुछ अधिकार हैं। आज मैं अपने उसी अधिकार का प्रयोग करूंगी। मैं पिता के यज्ञ में जाऊँगी। दोनों के बीच पड़ कर इस बढ़े हुए मनोमालिन्य को मिटाऊँगी, पिता को हर प्रकार से समझाऊंगी। शिव की महत्ता बताऊंगी। इनकी महामहिमा को विस्तार से सुनाऊंगी। अपना पुत्री-प्रेम दिखाऊंगी। पिता के पैरों पड़के उन्हें मनाऊंगी, फिर आदमी भिजवा कर भूतनाथ को बुलावाऊंगी। अब इनकी आज्ञा की प्रतीक्षा न करूंगी। इनके विरोध को अब न मानूंगी। ऐसे समय पर आज्ञा उल्लन्घन का दोष नहीं लगता।

महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुरजी! जब हृदय में कोई प्रबल बलवती इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तो मन उसी के पक्ष में अनेक युक्तियाँ रखकर भाँति-भाँति से उसी इच्छा का समर्थन करने लग जाता है। सती जी ने पूर्ण निश्चय कर लिया कि अब मैं शंकर की बात न मानूंगी। अपने पिता के यज्ञ में अवश्य जाऊंगी। वे अब दृढ़ता से हृदय को कड़ा करके चल ही दीं।

शिवजी वहाँ बैठे-बैठे कनखियों से सतीजी के मनोभावों का अध्ययन कर रहे थे। जब वे जातीं तो आँखें खोल कर देखते रहते, कहाँ तक पहुँचीं। जब वे लौट आतीं, तो भोलेनाथ भी नेत्र बन्द करके ध्यान में मग्न हो जाते। इस प्रकार जब सती

१०।५ बार आईं और गईं, तब शिवजी समझ गये इनके हृदय में घनघोर द्वन्द्व युद्ध हो रहा है।

अब जब उन्होंने देखा कि अत्यन्त विह्वलता के साथ कातर वाणी से रुदन करती, अश्रु बहाती थर-थर काँपती हुई चिन्ता, भय, शोक, मोह, उत्कन्ठा, से अभिभूत हुई सती जी अकेली ही चल दीं, तब तो शिवजी समझ गये। अब के इनका निश्चय अटल है। अब ये लौटने की नहीं। भावी की प्रबलता देखकर शिवजी समझ गये—सती का अन्त समय निकट आ गया है, तभी तो इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। मेरे इतना समझाने पर भी यह नहीं मानती। इसका विनाश काल समीप ही आ गया है। वही इसे बार-बार वहाँ चलने को प्रेरित करता है। विनाश काल में बुद्धि विपरीत बन ही जाती है। जब यह जा ही रही है, तो इस प्रकार अनाथों की भाँति इसे क्यों जाने दें। जाती ही है तो अपने स्वरूप से जाय।

यह सोचकर उन्होंने अपने प्रधान-प्रधान गण, भूत, पिशाच तथा अन्य सेवक सेविकाओं को बुलाकर कहा—"देखो, तुम्हारी स्वामिनी अकेली कहाँ जा रही है ? वे जहाँ भी जा रही हों, तुम सब उनकी सेवा में साथ जाओ। नन्दीश्वर इन्हें अपनी पीठ पर बिठाकर ये जहाँ भी कहें पहुँचा दें। इनका सभी साज श्रृंगार तथा विनोद क्रीड़ा का समान साथ जाय।"

शिवजी की ऐसी आज्ञा पाकर बड़े उल्लास के साथ भूतिनी पिशाचिनी, डाकिनी, साकिनी, उनके पीछे-पीछे दौड़ीं। उन सब को पीछे ठेलते हुए बाँ-बाँ करते हुए नन्दीश्वर सबसे पहिले पहुँच गये। जाते ही उन्होंने हाँफते हुए कहा—"माता जी ! कहाँ जा रही हैं ?"

सतीजी ने समझा शिवजी इसे लौटाने के लिये भेजा है।

अतः तुनक कर बोलीं—"हम कहीं भी जा रही हों, तुझे क्या प्रयोजन? भाग जा यहाँ से! हमारे मार्ग में रोड़े मत अटकाना।"

नन्दीश्वर ने हाथ जोड़ कर कहा—"माता जी! मैं आपको रोकता थोड़े ही हूँ। मैं तो आपकी सहायता के लिये आया हूँ। आप जहाँ भी चलें मेरी पीठ पर बैठ कर चलें। आप महारानियों की भी महारानी हैं। आपको इस प्रकार अकेले जाना शोभा नहीं देता। इसमें हमारे स्वामी का अपमान है।"

इतना सुनते ही सती जी का मुखकमल खिल उठा और बड़े स्नेह से बोलीं—"नन्दीश्वर! तुम बड़े अच्छे हो। शिवजी के सब गणों में तुम ही मुझे बहुत प्यारे हो। मुझे आशा नहीं थी, कि भगवान् भूतनाथ की बिना आज्ञा लिये आने पर तुम मेरी सहायता करोगे। अच्छी बात है। मैं तुम्हारे ऊपर चढ़ कर अपने पिता के घर चलूँगी।"

नन्दीश्वर ने कहा—"माताजी! पुत्र के लिये तो माता पिता दोनों समान हैं। यही नहीं, पिता से माताजी का पद सौगुना श्रेष्ठ है। माता पिता की प्रेम-कलह से पुत्रों को क्या प्रयोजन? मैं तो परिवार भर का वाहन हूँ, जहाँ भी स्वामिनी ले जायँ। नौकर चाकर अभी झूल सिंहासन लेकर आते हैं वे आकर मेरा साज शृंगार करेंगे। तब आप बड़े ठाट बाट से चलें। ननसाल में जाने पर हमें भी खाने को माल मिलेंगे। मैं भी अपने सींग हिला-हिल कर नानी; मामी, मौसी सभी से प्रसाद पाऊंगा।"

सती जी बोलीं—"अरे, तू कैसी बातें कर रहा है? वहाँ तो सब तुझे हाथों पर उठाये-उठाये फिरेंगी। और लोग बैल की पीठ पर चढ़ना पाप समझते हैं, किन्तु तुम्हारे भोलानाथ तो पाप पुण्य से परे हैं। उनके पीछे मुझे भी तुम पर चढ़ना

पड़ता है। मेरी बहिनें तो तेरे ऊपर चढ़ेंगी नहीं। हाँ, उनके बाल बच्चे तुझे बहुत तंग करेंगे। उन सब को तू पीठ पर चढ़ा कर घुमाना। सुन्दर-सुन्दर माल उड़ाना। यहाँ तो तू ऐसा दुबला पतला हो रहा है। वहाँ जाकर मोटा ताजा हो जायगा।

सतीजी और नन्दीश्वर में ये बातें हो ही रही थीं कि इतने में ही सेवक-सेविकायें मणिमान् मंद आदि सहस्रों शम्भुगण पार्षद यक्षों के सहित आ पहुँचे। किसी के हाथ में नन्दी की झूल थी तो किसी के हाथ में सिंहासन; किसी के हाथ में श्रृङ्गार का सामान था, तो कोई सतीजी की क्रीड़ा की वस्तुएँ लिये हुए थीं। बहुतों के हाथ में वस्त्रों की पेटियाँ थीं; बहुत सी आभूषणों की पेटिकायें सिरों पर लादे थीं। बहुत सी दासियाँ पिंजड़ों के उन तोता मैनाओं को लिये हुए थीं जिनसे सतीजी का मनोरंजन होता था जो अपनी सुंदर सुरीली वाणी से मधुर शब्द बोल-बोल कर सतीजी को सदा प्रसन्न रखती थीं। बहुत सी खेलने की गेंदों को लिये थीं, बहुत सी माला का श्रृङ्गार करने वाली भाँति-भाँति की मालायें लिये थीं, कुछ के हाथों में सुरमा की शीशी, सिन्दूर, काजल की डिबिया, श्रृङ्गार की पिटारी थी जिसमें दर्पण, तिलक का सामान, तेल फुलेल, कङ्घी, वेणी गूँथने का सामान, काले डोरे, रेशमी झब्बे आदि थे। आते ही सबने सतीजी को प्रणाम किया और कहा—"स्वामिनी जी! आप हमें सबको छोड़कर कहाँ अकेले ही जा रही हैं? हमारा यहाँ कौन है? आपकी सेवा ही तो हमारे जीवन का आधार है। जैसे छाया शरीर को कभी साथ नहीं छोड़ती, वैसे ही हम भी कभी आपका साथ नहीं छोड़ सकतीं। आप जहाँ भी चलें हमें अपने साथ ले चलें।"

यह सुनकर सतीजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—तुम

सबके बिना तो मेरा मन भी वहाँ न लगेगा, किन्तु मैंने सोचा—मैंने तुमसे कहा और शिवजी ने मना कर दिया तो मुझे बहुत बुरा लगेगा। इसीलिये मैंने तुम सबसे से कहा नहीं।"

दासियों ने कहा—"नहीं माताजी, हम तो आपकी हो सेविकायें हैं। हमें तो आप अग्नि में कूदने को कहें तो हम उसमें भी कूदने को तैयार हैं।"

यह सुनकर सतीजी प्रसन्न हो गईं। सेवकों ने नन्दीजी पर झूल डाली, सिंहासन रखकर कसा। पुट्ठों पर सुवर्ण की माला डाली, गले में मालायें पहिनायीं, सींगों पर सुवर्ण के सींग पहिनाए, रंग-बिरङ्गे कपड़े माथे में बाँधे। पैरों में घुटनों पर घुँघरू बाँधे। छुद्र घंटियों की माला जिसके बीच में बड़ा सा घण्टा लटक रहा था उसे गले में बाँधा और सब प्रकार के शृङ्गार करके नन्दीश्वर को सजाया। जब नन्दीश्वर सज गये तो वे बैठ गये। सुवर्ण की नसेनी लगाई। पहाड़ की भाँति ऊँचे नन्दीश्वर पर सेविकाओं की सहायता से माता जी चढ़ गईं। हजारों सेविकायें तथा सेवक उन्हें घेरकर बैठ गये। उनके ऊपर श्वेत छत्र ताना गया। दोनों ओर चँवर डुलने लगे। सबने एक साथ मिलकर सतीजी का जै-ज-कार किया। अब सबको लिये हुए नन्दीश्वर उसी प्रकार उड़ने लगे जिस प्रकार कोई पखवाला पर्वत लक्ष्मी जी को उनकी सहेलियों और सेविकाओं को लिये हुए उड़ रहा हो।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार सतीजी मोहवश अपने पति सदाशिव की आज्ञा को मेट कर पिता के घर को चल दीं।"

छप्पय

बहुरि विचारें चलूँ शम्भु नहिं देंगे अनुमति।
छिन-छिन बीते कल्प कोटिसम चित चंचल अति॥
राम करैं सो होहि चलूँ होवे सो होवे।
वह पीछे पछिताइ सुअवसर जो नर खोवे॥
सती सतिनि महँ शिरोमणि, विकल वासना-वश भईं।
आज्ञा उल्लंघन करी, बिनु पूछे ही चलि दईं॥

दक्षयज्ञ में सतीजी का प्रवेश

[१६५]

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियत्,
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

समुझे शिव सर्वज्ञ सती के सुकृत सिराये ।
अनुचर नन्दी आदि तुरत हर संग पठाये ॥
विनती सब मिलि करी भवानी वृषभ बिराजीं ।
चँवर छत्र सिर लगे दुन्दुभी तुरही बाजीं ॥
यों सजि-बजि पितु घर चलीं, असगुन बहु मग महँ भये ।
परि न ध्यान उतकूँ दयो, नन्दी खगपति सम गये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सतीजी को यज्ञोत्सव में आई हुई देखकर यज्ञ के यजमान उनके पिता ने उनका आदर नहीं किया । जब पिता ने ही आदर नहीं किया, तो उनके डर से किसी ने भी आदर नहीं किया, केवल उनकी माता और बहिनों को छोड़कर । उन माता बहिनों ने प्रेम के अश्रु बहाते हुए गद्गद कंठ से प्रसन्नतापूर्वक उनका आलिङ्गन किया ।"

बड़ों की आज्ञा मानने में ही कल्याण है, जो लोग बड़ों का अपमान करते हैं, उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करते हैं, उनकी बताई हुई शिक्षा को नहीं मानतें, अन्त में उन्हें पछताना पड़ता है। हम अपनी अपरिपक्व बुद्धि के कारण बड़े लोगों की बातों को व्यर्थ समझते हैं, किन्तु हम इस बात को भूल जाते हैं कि इनकी शिक्षा के साथ पिछला अनुभव छिपा हुआ है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! जब श्रीशङ्कर की बात न मानकर सतीजी स्वेच्छा से मोहवश अपने पिता के घर चली गईं, तो मानो श्रीशिव ने अपने श्रासम्पन्न ऐश्वर्य को खींच लिया। श्रीसतीजी श्रीहीन होकर दक्षयज्ञ में गईं। आप जानते ही हैं सर्वत्र शक्ति से ही काम चलता है और शक्ति का ही आदर होता है। सतीजी अपनी शक्ति शिव के ही समीप छोड़ गईं। अतः उनका अब कौन आदर करता ? पत्नी को पति से। शक्तिमान् के बिना शक्ति निराधार रह नहीं सकती और शक्ति आधार में से यदि आधेय शक्ति निकल जाय, तो वह आधार शून्य हो जाता है। 'शिव' शब्द में जो इकार है वही शक्ति है। एकाक्षरी कोष में अकार को वासुदेव कहा है। और इकार को लक्ष्मी बताया है। जब तक शिव में इकार है तभी तक वे चैतन्य हैं, शक्तिमान् हैं। जब इकार पृथक् हो जाय, तो वे शिव—निर्जीव बन जाते हैं। इसी प्रकार इकार पृथक् हो जाने से फिर वह 'शिव' के काम की नहीं रहती। उसे फिर से अग्नि में शुद्ध करके ग्रहण किया जाता है।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! सती तो बहुत ही बुद्धिमती पति-परायणा और साधु चरित्र की थीं। साक्षात् जगदम्बा ही थीं। उन्होंने ऐसी हठ क्यों की ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! ईश्वरों की लीला

कुछ नहीं जानी जा सकती। वे क्या करना चाहते हैं, क्यों ऐसी मोह माया की क्रीड़ायें किया करते हैं? मैं तो यही समझता हूँ यह भगवान् का विनोद है। जब तक हम इस दृश्य प्रपंच को सत्य समझेंगे, तब तक मोह होना अवश्यम्भावी है और बन्धन का हेतु मोह है, किन्तु शिव और सती को स्वप्न में भी मोह नहीं व्याप सकता। इससे मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ, भगवान् अपनी क्रीड़ा के लिये जीवों को बन्धन से छुटाने के लिये, ऐसी-ऐसी लीलायें रच लेते हैं। वैसे तो कारण के बिना कोई कार्य होता ही नहीं, किन्तु श्रीशिव तो कारण से रहित हैं। फिर भी हमने इस सम्बन्ध में एक कथा सुनी है।

शिव और विष्णु में साम्य करना अपराध है। साम्य दो बराबर गुणों की वस्तुओं में होता है, किन्तु जो एक है उनमें साम्य नहीं होता। एक पेड़ के बहुत फल एक ही स्वाद के होते हैं, इस दृष्टान्त में भिन्नता हो भी सकती है, किन्तु विष्णु में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती। शिव ही विष्णु हैं, विष्णु ही शिव हैं। विष्णु ने दो रूप बना रखे हैं। एक द्विनेत्र चतुर्बाहु रूप है, एक त्रिनेत्र चन्द्रमौलि गङ्गाधर रूप है। विष्णु अपने इष्टदेव शिव को समझते हैं, शिव विष्णु को। विष्णु शिव-शिव जपते हैं, शिव राम-राम रटते हैं। अब इनमें हम किसे बड़ा समझें किसे छोटा, किसे बराबर का? हम तो समझते हैं विष्णुसहस्रनाम में शिव भी उनका नाम है, शिव-सहस्र-नाम में पालक विष्णु भी उन्हीं का नाम है।

हाँ, तो शिवजी के इष्टदेव श्रीराम हैं। श्रीराम अनादि हैं, उनके अवतार भी अनादि हैं, चरित्र भी सब अनादि हैं। वनवास के समय श्री सीताजी को रावण हर ले गया। भगवान् नरनाट्य करते हुए घूम रहे थे, सीताजी के विरह में रो रहे थे, वृक्ष पेड़

पत्तों से उनका पता पूछ रहे थे। गोदावरी को डाट फटकार रहे थे, लक्ष्मण उन्हें सान्त्वना दे रहे थे, उनके अश्रु रुकते ही नहीं थे, शरीर काँप रहा था, ओठ फड़क रहे थे, भृकुटी चढ़ रही थी, बराबर धनुष की टंकार कर रहे थे। कभी धूलि में लोट जाते, कभी दौड़ने लगते, कभी हा प्रिये ! हा प्रिये ! कहकर मूर्छित हो जाते, कभी पागलों की भाँति प्रलाप करने लगते।" उसी समय बैल पर सतीजी के साथ चढ़े सदाशिव संसार के जीवों की गति विधि देखने घूम रहे थे। उन्होंने दूर से भगवान् को ऐसी दशा देखी। बैल से उतर कर उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और बिना उनके सम्मुख हुए ही चल दिये।

सतीजी को बड़ा सन्देह हुआ। उन्होंने पूछा—"प्रभो ! आप तो जगद्वन्द्य हैं। ब्रह्मादिक देवता भी आपकी वन्दना करते हैं। आपने इनको क्यों प्रणाम किया, ये कौन हैं।"

शिवजी ने कहा—"सती ! ये राम हैं।"

सतीजी ने अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ कहा—"कौन राम, महाराज ? आप जिनका निरन्तर राम-राम राम-राम नाम रटते हैं, वे ही राम ?"

शिवजी ने कहा—"हाँ, वे ही राम।"

सतीजी ने शीघ्रता से कहा—"महाराज ! वे राम ये कैसे हो सकते हैं ? वे तो सर्वव्यापक हैं।"

हँसकर शिवजी ने कहा—"तो, सर्वव्यापक होने से क्या हुआ है ? इस रूप में व्यापक होने से क्या उनकी सर्वव्यापकता नष्ट हो गई ?"

सतीजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं, महाराज ! सर्वव्यापकता तो नष्ट नहीं हुई, किन्तु यों तो सबमें ही

व्यापक हैं। मुझमें भी व्यापक है। मुझे तो आप कभी इतनी लम्बी प्रणाम करते नहीं।"

शिवजी ने हँसकर कहा—"लाओ, हम अब कर लें; तुम्हें यदि इसी में प्रसन्नता है तो ?"

सतीजी ने कहा—"यह तो तुम हँसी कर रहे हो ? मुझे तो तुम हंसी में कर भी लो, किन्तु वृक्ष, पत्ते, कूकर, शूकर सभी में तो राम रम रहे हैं। ऐसे तो मैंने कभी आपको प्रणाम करते नहीं देखा, मन से भले ही करते हों।"

शिवजी ने कहा—"हाँ, सती, मैं उन सबको मन से प्रणाम करता हूँ, क्योंकि उन सबमें जो राम हैं, वे माया से आच्छादित राम हैं और ये मायारहित शुद्ध राम हैं !"

सतीजी बोलीं—"महाराज, मायारहित विशुद्ध राम तो निर्गुण ही हो सकते हैं। जहाँ वे सगुण हुए, गुणों का आश्रय लिया, वहाँ वे प्रपंच के अन्तर्गत आये और प्रपंच माया के बिना बन नहीं सकता। और जो निर्गुण-निर्विकार अलेप है, वह सगुण हो कैसे सकता है ? उसे दुःख शोक हो ही नहीं सकता। ये तो स्त्री के वियोग में कितने दुखी हैं, कितने विह्वल हैं, प्राकृत पुरुषों के सदृश रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं ?"

शिवजी ने कहा—तो, क्या विलाप करने से ये माया में फंस गये ? इनकी विशुद्धता नष्ट हो गई ? और तुमने कहा—निगुण सगुण हो नहीं सकता, तुम किस आधार पर कह रही हो, वे सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, नियमों से परे हैं। उन्हें तुम इन प्राकृतिक नियमों में बाँधकर उनकी सर्वज्ञता नष्ट क्यों कर रही हो ? वे जो चाहें कर सकते हैं, निर्गुण से सगुण हो सकते हैं, अपरिच्छिन्न से परिच्छिन्न हो सकते हैं। निराकार से साकार हो सकते हैं। एक से बहु बन सकते हैं।"

उसी स्वर में स्वर मिलाती हुई सतीजी बोलीं—"चोर, डाकू बनकर लूटपाट कर सकते हैं, जुआड़ी बनकर जुआ खेल सकते हैं, कुकर्मी बनकर कुकर्म कर सकते हैं। ऐसे सर्वज्ञ राम को महाराज दूर से ही डंडौत है।"

शिवजी ने कहा—"देखो, बात को समझो। जब सबके प्रेरक श्रीहरि हैं, उनकी प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं होता, तो भले बुरे सभी काम के करने कराने वाले वे ही हैं। यह अच्छा है, यह बुरा है—ये नियम माया में ही सम्भव हैं। माया से परे होने पर न कुछ अच्छा है, न बुरा। बस, राम ही राम हैं। राम जब अपना सगुण साकार रूप बनाते हैं, तब इन मर्यादाओं को भी स्वीकार कर लेते हैं, स्वेच्छा से। हम लोग भी मर्यादाओं को स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वेच्छा से नहीं, कर्मबन्धनों के अधीन होकर। भगवान् बन्धनरहित हैं। इनके लिये कर्म और उनका फल नहीं है। इस रूप को धारण करने पर भी उनकी निर्गुणता निर्विकारता, सर्वव्यापकता, सर्वसमर्थता नष्ट नहीं होती। वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।"

सतीजी ने कहा—'महाराज, यह तो आप विचित्र बात कह रहे हैं। आँखें रहते भी अन्धा बना रहे हैं। प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणित सिद्ध कर रहे हैं। मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ, ये दशरथ के लड़के हैं। अपनी बहू के लिये आँसू बहा रहे हैं। इनकी बहू को खोये आज के दिन हुए ?"

शिव ने कहा—"आज दूसरा दिन है।"

सतीजी हँसकर बोलीं—"लो, दो दिन में ही ये इतने व्याकुल हो गये। प्रतीत होता है, ये उसके वियोग में जी नहीं सकते। आप तो हजारों वर्ष की ताली लगा जाते हैं, समाधि में मग्न हो

जाते हैं, मेरी ओर देखते भी नहीं। जो बहू के लिये इतना तड़फड़ा रहा है उसे आपसे श्रेष्ठ मैं कैसे समझूँ ?"

शिव ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"देवि ! तुम मुझसे मेरे इष्ट की समता मत करो। यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता है तो जाने दो।"

सतीजी ने कहा—"महाराज, जाने कैसे दूँ ? मुझे समझाओ जिसने रूप रखा है वह ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ। राम जब अरूप हैं, निर्गुण हैं, कभी प्रकट नहीं होते, तो वे रूपवान् कैसे हो सकते हैं।"

शिवजी बोले—"जाने भी दो, नहीं सगुण हो सकते तो तुम निर्गुण का ही ध्यान करो। पहिले मनुष्य भगवान् से अनभिज्ञ रहता है फिर निर्गुण का ध्यान करता है। तब कुछ दिन निर्गुण का ध्यान करते-करते चित्त किसी लक्ष्य पर जमता है, तो उसे सगुण रूप की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। हरि निर्गुण भी हैं सगुण भी। हमारी हठ नहीं कि वे निर्गुण हो ही नहीं सकते। उनका रूप इन प्राकृत गुणों से परे है। दिव्य गुणों का आश्रय लेकर वे क्रीड़ा करते हैं।"

सतीजी बोलीं—"महाराज, यह तो गड़बड़-सड़बड़ सी हो रही है।"

शिवजी बोले—"अच्छा गड़बड़-सड़बड़ ही सही, जाने दो इस झगड़े को।"

सतीजी बात पर बल देती हुई बोलीं—"महाराज ! जाने कैसे दें ? आपने तो मुझे 'राम' मन्त्र की दीक्षा दी है। जब कभी भी राममन्त्र का जप करूँगी, यह रोती, चिल्लाती बहू के वियोग में आँसू बहाती मूर्ति मेरे हृदय पटल पर नाचने लगेगी।"

शिवजी बोले—"यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारी साधना सफल हो जायगी।"

सतीजी बोलीं—"महाराज! मुझे तो विश्वास होता नहीं, आप इनकी परीक्षा लेकर कुछ दिखाओ, जिससे मेरी दृढ़ता बढ़े, श्रद्धा हो अब जब तक इसका निर्णय न होगा, मैं तुम्हें आगे न बढ़ने दूँगी।"

शिवजी बोले—"परीक्षा सन्देह में ली जाती है या छोटों की ली जाती है। मुझे न तो इनके राम होने में कोई सन्देह ही है और न ये मुझसे छोटे हैं। मेरे इष्टदेव ही हैं। अतः मैं तो परीक्षा लेता नहीं। तुम्हीं जाकर ले लो।"

सतीजी तो उतावली हो ही रही थीं, झट से परीक्षा लेने चल दीं। आगे जाकर सोचने लगीं—कैसे परीक्षा लूँ? जिसके कारण से ये दुःखी हैं, उन्हीं का रूप रख लूँ, तो ये देखते ही मेरी ओर दौड़ेंगे। मैं तत्क्षण अन्तर्धान हो जाऊँगी।" यह सोचकर वे आगे रास्ते में श्रीजानकी जी का—जैसे का तैसा रूप बनाकर बैठ गईं।

श्री रामचन्द्रजी ने जब सती को इस वेष में बैठे देखा, तो शीघ्रता से उन्होंने अपने आँसू पोंछे। पृथ्वी पर घुटने टेक कर कहा—"माताजी! मैं दशरथ का पुत्र श्रीराम आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। माताजी! आप यहाँ आज अकेली कैसी बैठी हैं? आप तो संसार में सर्वश्रेष्ठ सती होने के नाते सदा शिव के साथ ही साथ रहती हैं। कभी भूल कर भी उन्हें आप नहीं छोड़तीं। शिवजी ही तो मेरे इष्टदेव हैं। उन्हीं की पूजा करके तो मैं सब कार्य करता हूँ।"

इतना सुनते ही सतीजी बहुत लज्जित हुईं। वे वहीं छिप गईं। श्रीरामजी आगे चले गये। तब उन्होंने आगे पीछे सहस्रों, लाखों,

असंख्यों रूप श्रीसीतारामजो के देखे। सब रूपों की ब्रह्मादिक देवता स्तुति कर रहे हैं। असंख्यों शिव हैं, उतनी ही सतीजी भी हैं। यह देखकर सतीजी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्हें जो दशरथपुत्र राम में और निर्गुण निराकार राम में भेद-भाव उत्पन्न हो गया था वह दूर हुआ। दौड़ी-दौड़ी शिवजी के समीप आईं। शिवजी ने पूछा—"कहो, कुछ बात समझ में आई। कुछ परीक्षा ली ?"

शिवजी ने सतीजी के मन में तो भ्रम पैदा कर दिया था। उन्होंने कह दिया—"क्या परीक्षा लेनी थी महाराज! आप चराचर के स्वामी हैं, आपके वचन अन्यथा तो हो नहीं सकते। आपके इष्ट यही हैं; तो मेरे भी यही हैं।"

शिवजी ने समाधि में सब समाचार समझ लिये, कि सती ने सीता का स्वरूप बनाया था। सती ने मेरे इष्ट की शक्ति का स्वरूप बनाया, अतः इस शरीर से अब मैं उनसे पति-पत्नी का भाव न रखूंगा। यह शरीर तो मेरा पूजनीय बन गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी। देह के ही द्वारा सम्बन्ध है, नहीं तो इस जन्म में जो माता है दूसरे जन्म में वही पत्नी हो जाती है। इस जन्म में जो पत्नी है, जन्मान्तर में वह पुत्री बन जाती है। शिवजी ने लौकिक मर्यादा का पालन किया। सुवर्ण जब अशुद्ध हो जाता है—तो अग्नि में तपा कर उसका मल पृथक् करके उसे शुद्ध करके फिर धारण करते हैं। सो, विदुरजी! यह सब शिवजी की इच्छा से ही हुआ। आते ही उन्होंने हजारों वर्षों की समाधि लगा ली। समाधि से ज्यों ही उठे, त्योंही यह दक्ष के यज्ञ का बखेड़ा हो गया।

शिवजी ने लौकिक दृष्टि से मना किया। यदि उनकी इच्छा न होती, तो सती कैसे जा सकती थीं। भगवान् शंकर के भेजे

हुए गणों के साथ सतीजी की सवारी बड़ी धूम-धाम से चली।

दूर से ही सतीजी ने देखा। बड़े भारी यज्ञ का समारोह है। असंख्यों ब्राह्मण, देव, उपदेव, ऋषि, महर्षि वहाँ बैठे हैं। आगत पुरुषों का बड़ी धूमधाम से स्वागत, सत्कार हो रहा है। ब्राह्मण और दरिद्रों को अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, चाँदी आदि सभी वस्तुएं बाँटी जा रही हैं। जो भी आओ वही खाओ, जैसा चाहो वैसा प्रसाद पाओ, कच्ची खाओ, फलाहार उड़ाओ, दूध पी जाओ, भर पेट फल खाओ, निरी लड्डू, जलेबी, बालूसाई ही उड़ाओ। गरमा गरम खस्ता कचौरी जो मुट्ठी में दबाते ही खील-खील हो जाय, टोकनियों, उतर रही हैं। युवा पुरुष पापड़ों को स्वाद से चबा रहे हैं, बूढ़े लोग गरमागरम हलुए को बिना दाँतों की सहायता से गटक रहे हैं। कुछ लोग रबड़ी पी रहे हैं, कुछ रायतों के पात्रों को सफा कर रहे हैं। भात का पर्वत लगा है। दालों के टोकने भरे हैं। घी के कुण्ड भर रहे हैं। दूध की नदियाँ वह रही हैं। लोग मीठा खाते-खाते ऊब गये हैं कुछ चटपटी चटनी और पाचक गोलियों की इच्छा कर रहे हैं। कुछ कह रहे हैं अभी आप थोड़ा विश्राम करें; जहाँ यह पंक्ति उठी कि आपको ही बैठना है। बड़ा भारी एक नगाड़ा रखा है। उसे सुवर्ण के दण्डों से कई लोग बजाते हैं। उसके बजते ही हजारों मनुष्य भोजन को बैठ जाते हैं। एक पंक्ति उठी, फिर बजा। इस प्रकार दिन रात्रि बजता ही रहता है।

सतीजी ने देखा यज्ञशाला में बड़ी भीड़ है। पीले-पीले रेशमी दुपट्टे ओढ़े वेदज्ञ ब्राह्मण इधर से उधर सामग्री जुटाने में लगे हुए हैं। यूप में बहुत से पशु बँधे हैं। कहीं कुश बिछे हैं, कहीं स्रुवा, स्थाली आदि यज्ञपात्र तथा सुवर्ण चाँदी, काष्ठ और बहुत से मृत्तिका के भी पात्र रखे हैं। यज्ञ में हवनीय पदार्थों के

पहाड़ के पहाड़ रखे हैं। वेदी को घेर कर बहुत से ब्राह्मण ऋत्विक् सदस्य और यजमान आदि बैठे हैं। यज्ञ की विधि आदि के विषय में ब्राह्मण वाद-विवाद कर रहे हैं। बहुत से किसी पक्ष का, किसी शास्त्र का प्रमाण देखकर पुष्टि कर रहे हैं, दूसरे उसी का युक्तियों से खण्डन कर रहे हैं। चारों ओर चहल पहल है। बड़ी धूमधाम है। सतीजी का हृदय बाँसों उछल रहा था। वे मन ही मन कह रही थीं, मैं यदि शिवजी की बातों में आ जाती, तो इस आनन्द से वंचित रह जाती। फिर पीछे पछताना ही रह जाता।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी, इस प्रकार सतीजी मन में सोचती हुई यज्ञशाला के समीप पहुँचीं। अभी उन्होंने अपने पिता के दर्शन नहीं पाये।"

छप्पय

शिव इच्छा के बिना पात नहिँ हिलें नगनिके।
नाहिँ सती कछु कर्‌यो काज करवाये इनिके॥
धर्‌यो सती सिय रूप शम्भु तब मन तें त्यागी।
इष्ट शक्ति मम मातु सरिस समझीं तब भागी॥
गाजे बाजे बजहिँ बहु, चहल पहल चहुँ दिशि हती।
चढ़ि नन्दी पै गणनि सँग, यज्ञ माहिँ पहुँचीं सती॥

पिता के यज्ञ में अपमानित सती का कोप

[१९६]

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरम्,
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० ४ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

पिता न आदर कर्यो देखि म्हौं अपनो फेर्यो ।
डर के मारे सती माँहिँ कोई नहिँ हेर्यो ॥
जननी भगिनी मिलीं प्रेम तें हिये लगाई ।
किन्तु न कोई बात सती कूँ फेरि सुहाई ॥
जग जननी जगदम्बिका, अपमानित अतिशय भईं ।
व्यापौ तन महँ कोप अति, आग बबूला ह्वै गईं ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सतीजी ने दक्ष के यज्ञ में पहुँच कर देखा कि उसमें शिवजी का भाग नहीं है, देवाधिदेव विभु का पिता के द्वारा किये हुए अपमान का विचार करके तथा यज्ञ सभा में तिरस्कृत हुईं वे सम्पूर्ण लोकों की स्वामिनी सतीजी अत्यन्त ही कुपित हुईं । ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने कोप से सम्पूर्ण लोकों को जला डालेंगी ।"

जिनके समीप बड़ी-बड़ी आशायें लगाकर जाते हैं, अपनापन समझ कर जिनके यहाँ स्वतः चले जाते हैं, फिर यदि वे हमारा अपमान करें, हमें देखकर मुँह फेर लें, हमारी बात भी न पूछें तो चित्त में बड़ा क्लेश होता है। मन करता है इसकी छाती पर चढ़कर इस अपमान का प्रतिशोध करें। इसे अपने किये का फल चखा दें। यदि समर्थ होता है, तो उसका बदला ले लेता है, यदि असमर्थ हुआ, तो रक्त का सा घूँट पीकर तुरन्त लौट आता है, यदि क्षमावान् हुआ, तो भगवान् की माया समझकर उन सर्वान्तिर्यामी उरप्रेरक प्रभु को प्रणाम करके न हर्ष करता है न विषाद, किन्तु ऐसे क्षमाशील विरले ही होते हैं। मानापमान का ध्यान बड़े-बड़ों को होता है और प्रायः समस्त कलह, युद्ध, लड़ाई झगड़े मनस्वी लोगों में मानापमान के ही पीछे होते हैं।

शिवप्रिया सती बड़े उल्लास से पिता के प्रेम को स्मरण करती हुई, मनमोदक खाती हुई, मन रूपी रथ पर चढ़कर अनेक मनोरम स्थानों का आनन्द लेती हुई भावमयी सुन्दर शैया पर सैकड़ों सुखद स्वप्न देखती हुई दक्षयज्ञ के निकट पहुँचीं जहाँ से यज्ञ का सभी कृत्य प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा वहीं उन्होंने नन्दीश्वर से कहा—"नन्दी ! अब यज्ञशाला समीप है। देवमन्दिर में, श्रेष्ठ पुरुषों के सम्मुख, यज्ञशाला और तीर्थ के निकट बाहन पर चढ़ कर नहीं जाना चाहिये। इन सबके सम्मान के निमित्त नंगे पैरों पैदल चलकर इनके समीप पहुँचना चाहिये। तू अब बैठ जा, मैं यहाँ से पैदल ही चलूँगी।"

माताजी की आज्ञा पाकर नन्दीश्वर वहीं बैठ गये। सुवर्ण की नसैनी से सेवक सेविकाओं ने उन्हें नीचे उतारा। आगे-आगे सेवक पथ परिष्कृत करते हुए चले। पीछे-पीछे बहुत से प्रेत, पिशाच, गुह्यक, प्रमथ आदि शिवजी के पार्षदगण भेरी, तुरही,

शंख, पणव बजाते हुए हू-हू करते हुए चल रहे थे। सतीजी के सिर पर श्वेत छत्र तना हुआ था। दोनों ओर देव-कन्यायें चंवर डुला रही थीं। सभी कुतूहल-वश उस जमघट को देखने लगे। सतीजी सीधी यज्ञ-मण्डप में पहुँचीं। दक्ष, यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे। वे बहुत से ब्राह्मणों के साथ विविध विषयों की बातें कर रहे थे। सतीजी ने जाते ही अपना समस्त प्रेम बटोर कर लजाते हुए पिता को प्रणाम किया। उन्हें आशा थी—मुझे देखते ही पिता अपनी छाती से चिपटा लेंगे, गोदी में बिठा कर सिर सूँघकर मुझसे कुशल प्रश्न करेंगे और पूछेंगे—'अकेली ही आई क्या बेटी! भगवान् सदाशिव नहीं आये?' तब मैं रोष के साथ कहूँगी, वे मेरी तरह निर्लज्ज थोड़े ही हैं, जो आप न बुलावें और दौड़े चले आवें। मेरी बात और है, मेरा तो घर ही है आप बुलावें न बुलावें, मैं तो आ ही गई' तब वे कहेंगे—'बेटी! यह बात नहीं मैंने आदमी भेजा था, न पहुँचा होगा' या कोई और कारण बतावेंगे। तब उसी समय उन्हें लेने, मैं आदमी के साथ नन्दीश्वर को भेज दूँगी, किन्तु यह क्या? दक्ष ने तो सती को देखते ही मुँह फेर लिया। उनसे बोलना तो पृथक्, उनकी ओर फिर कर देखा भी नहीं। सतीजी कुछ काल तक पाला मारी हुई लता के समान, काष्ठ पाषाण की मूर्ति के समान सन्न खड़ी रहीं। जब जनक ने ही आदर न दिया, तब और सब तो उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने वाले पिट्ठू थे, वे सब तो यक्ष के रुख को देखकर ही बर्ताव करने वाले थे। सबको पता था, सती और शिव को इस यज्ञ में न बुलाया जायगा। आज से इसी यज्ञ में नहीं, सभी यज्ञों में शिव का बहिष्कार कर दिया जायगा। आज से भाग-सूची में से शंकर का नाम काट दिया गया, इसीलिये उन्हें बुलाया नहीं गया। बिना बुलाये ही सती वहाँ पहुँच

गईं और पिता ने उन्हें बैठने तक को नहीं कहा, तो सभी सोचने लगे—'यह बिना बुलाये विघ्न-स्वरूपा कहाँ से आ उपस्थित हुईं ?'

पिता ने तथा यज्ञ के समस्त ऋत्विज् सदस्यों में से किसी ने भी जब सती की बात न पूछी तो यज्ञशाला में एक अग्नि तो अरणियों के मन्थन से ब्राह्मणों ने प्रकट की थी, दूसरी अग्नि सतीजी के हृदय में अपमान द्वारा उत्पन्न हुई। यह सतीजी की क्रोध-रूपी अग्नि उस पहिली अग्नि से अत्यन्त ही प्रचण्ड थी। वह अग्नि तो यज्ञ के हवनीय पदार्थों—घृत, चरु तथा अन्य सामग्रियों—को ही जलाती, किन्तु यह अग्नि तो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को जलाने के लिये पर्याप्त थी। सती किंकर्तव्य-विमूढ़ा बनी वहाँ खड़ी की खड़ी ही रह गईं।

यज्ञशाला में बैठी उनकी बहिनें देख रही थीं। पिता की बगल में दीक्षा लिये उनकी माता बैठी थीं। अपनी पुत्री को देख कर वे शीघ्रता से उठीं। कैसा भी हो, माता का हृदय माता का ही है, बड़े स्नेह से अपनी प्यारी पुत्री को उन्होंने गले से लगाया। बहिनों तथा मोसियों ने भी आकर कुशल पूछी। बैठने को आसन दिया। तिल चावल से उनकी गोद भरी। सभी ने वस्त्राभूषण लाकर उन्हें भेंट किये, किन्तु सती के हृदय में तो प्रलयाग्नि के समान ही क्रोधाग्नि उत्पन्न हो चुकी थी। पिता के द्वारा किये हुए अपमान-रूपी घृत ने उसे इतना प्रज्वलित कर दिया कि आस-पास में बैठे निरपराध व्यक्ति भी उसकी लपट में झुलसने लगे। सतीजी ने माता के प्रेम की ओर ध्यान नहीं दिया। बहिनों का दिया हुआ आसन ग्रहण नहीं किया, मौसियों और बड़ी भगिनियों के उपहारों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। आभूषणों को ठुकरा दिया, उनके द्वारा पूछे हुए कुशल

प्रश्नों का भी उत्तर नहीं दिया, उन्होंने महाकाली चण्डी का प्रचंड रूप धारण कर लिया था। बिना किसी से पूछे उस स्थल पर गईं, जहाँ सभी देवताओं का भाग पृथक्-पृथक् रखा था। एक इन्द्र का भाग है, दूसरी ओर वरुण का है। तीसरी ओर कुबेर का है, चौथी ओर यम हैं। बीच-बीच में वायु नैऋत्य, अग्नि का भी है, किन्तु शिवजी की न वहाँ पीठ है, न उनका भाग ही है। इस बात को देखकर उनका क्रोध और भी अत्यधिक बढ़ा। उन्हें शिवजी की कही हुई सब बातें याद आ गईं। अरे, यह तो मेरे बाप ने यथार्थ में ही शिवजी के अपमान के ही लिये यज्ञ किया है। यह यज्ञ नहीं दम्भ है, यह धर्म नहीं अधर्म है, पुण्य नहीं पाप है, शुभ कर्म नहीं अशुभ कर्म है। यह विशुद्ध भावना से न करके द्वेष के कारण यज्ञ किया गया है। ऐसा यज्ञ कभी भी साङ्गोपाङ्ग पूरा न होगा। इसमें अवश्य बहुत से विघ्न आवेंगे। जो शिव समस्त यज्ञों के अधीश्वर हैं, उनका जिस यज्ञ में भाग नहीं, स्वागत सम्मान नहीं, वह यज्ञ कभी निर्विघ्न हो ही नहीं सकता। यह सोचते-सोचते सती का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उनकी आँखों से क्रोध के अंगारे से निकलने लगे, शरीर थर-थर काँपने लगा, दोनों भृकुटियाँ चढ़ गईं, शरीर से पसीना निकलने लगा, माथे पर स्वेद बिन्दु झलकने लगे, मुख रक्त वर्ण का होकर तमतमाने लगा। अपनी स्वामिनी की ऐसी दशा देख कर शिवजी के गण अत्यन्त कुपित हुए। वे हाथ में जलती अग्नि लेकर तथा नाना अस्त्र-शस्त्रों को सम्हाल कर दक्ष को मारने के लिये दौड़े।

गणों को इस प्रकार दक्ष की हत्या पर उतारू देखकर उन्हें डाटती हुई सतीजी बोलीं—"देखो, सावधान! मेरे सामने मेरे पिता पर किसी ने भी हाथ छोड़ा, तो मुझसे बुरा कोई नहीं है।

यद्यपि मेरा पिता नीच है, इसे कर्मकाण्ड के कारण आवश्यकता से अधिक गर्व हो गया है। इसी से तो यह देवताओं के भी देव भगवान् विश्वनाथ का अपमान करने पर उतारू हो गया है। फिर भी कैसा भी हो मेरा पिता है। अपनी आँखों के सामने मैं किसी अन्य को इसकी हत्या न करने दूँगी। तुम लोग यहाँ से हटकर दूर खड़े हो जाओ। मैं अकेली ही इससे निपट लूंगी।"

सतीजी की ऐसी आज्ञा सुनकर शिव-पार्षद-गण अत्यन्त कुपित होने पर भी लौट गये। अब सतीजी यज्ञ-मण्डप में बैठे हुए समस्त स्त्री-पुरुषों को सुनाती हुईं अपने अभिप्राय को प्रकट करने लगीं।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! शिवजी के अपमान से उन्हें अत्यधिक क्लेश हुआ। इस समय उनकी कुछ कहने की इच्छा तो नहीं थी, किन्तु वे शिव-महिमा को सब पर प्रकट करना चाहती थीं, उन्होंने वहीं पिता के सम्मुख प्राण देने का निश्चय कर लिया। अतः मरते समय शिव-गुण-गान करके उनकी आज्ञा के उल्लङ्घन-रूपी पाप का प्रायश्चित्त भी तो करना था। अतः वे अब शिव की महिमा बखान करने को उद्यत हुईं।"

छप्पय

इत उत निरखें कहूँ शम्भु को भाग न पायो।
तातें लाखनि गुनों कोप देवी कूँ आयो॥
यज्ञ अनल तैं प्रबल सती हिय ज्वाला व्यापी।
काली चण्डी बनी पिता कूँ समुझ्यो पापी॥
पापी तैं पैदा भयो, नहिँ तनु शिव उपभोग्य है।
अशुचि ताहि पितु यज्ञ महँ, तजौं जिही तो जोग्य है॥

सती-द्वारा शिव-गुणगान

[१९७]

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणाम्,
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनम्,
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥ ❀

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

ऐसो निश्चय कर्यो कोप तैं बोलीं बानी ।
च्यौंरे मङ्गलरहित, शम्भु द्वेषी, अभिमानी ॥
कर्मकांड में फँस्यो शम्भु महिमा नहिँ जाने ।
सब तैं हौं ही बड़ो, बाप तू ऐसो माने ॥
जिनके 'शिव' जा नाम कूँ, भाव कुभावहु जे रटैं ।
तिनके सब दुख दुरित अघ, जग के छिन भरि में कटैं ॥

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सबको सुनाती हुई देवी सती अपने पिता से कहने लगीं—देखो, जिनका दो अक्षरों वाला 'शिव' ऐसा नाम किसी भी प्रकार प्रसंग-वश एक बार भी लिया जाय, तो मनुष्यों के पापों को तत्क्षण नष्ट कर देता है। सो, हे अमंगल-रूप पिता ! तू उन पवित्र-कीर्ति भगवान् शंकर से द्वेष करने का साहस करता है। जिनकी आज्ञा कोई उल्लंघन ही नहीं कर सकता।"

जिनके प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा है, जो अपने सर्वस्व हैं, जीवनाधार हैं, प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं उनके यदि हमें अनिष्ट की, अपमान की सम्भावना हो, तो भावुकता में भर कर हम सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। न करने योग्य काम कर जाते हैं, न कहने योग्य बातें कह जाते हैं। न बर्तने योग्य व्यवहार बर्त जाते हैं। सरांश यह कि फिर हम अपने आपे में नहीं रहते।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सतीजी ने यज्ञ में शिवजी का भाग नहीं देखा, तो वे क्रोध पूर्वक दक्ष से बोलीं—क्यों रे, मेरे बाप! तैंने इस यज्ञ में शिवजी को क्यों नहीं बुलाया? उनका भाग क्यों नहीं निकाला?"

दक्ष बोले—"हमारे यज्ञ में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवताओं को ही भाग दिया जाता है। मनमाने आचरण करने वालों को भाग देना तो दूर की बात है, उन्हें यज्ञ-मंडप में घुसने भी नहीं दिया जाता।"

इस पर सतीजी सब देवताओं की ओर देखकर कहने लगीं—"क्या शिवजी देवधिदेव नहीं हैं? क्यों इन्द्र! तुम शिवजी को नहीं जानते? कुबेर! तुम भगवान् भूतनाथ से अपरिचित हो क्या? फिर तुम उनके बिना इस दम्भ-यज्ञ में भाग ग्रहण क्यों कर रहे हो? हे वरुण! तुम्हें वरुणत्व पद पर किसने प्रतिष्ठित किया? तुम शूलपंणि शंकर को नहीं जानते? यदि जानते हो, तो तुमने इस यज्ञ का विरोध क्यों नहीं किया? तुम दधीचि मुनि की भाँति इस यज्ञ को छोड़कर चले क्यों नहीं गये? मैं यहाँ पर बैठे सभी देवताओं को भीरु तथा डरपोक समझती हूँ। ये यज्ञ कराने वाले भी सब लोभी हैं, नहीं तो जैसे दधीचि मुनि इस शिवहीन यज्ञ का बहिष्कार करके चले गये, ऐसे ही तुम सब भी चले जाते, किन्तु तुम में इतना साहस कहाँ? तुम लोभ

के वशीभूत होकर अनुचित को भी उचित कह सकते हो। न करने योग्य काम को भी कर सकते हो। इतना कहकर फिर वे अपने पिता से कहने लगीं—"पिता! तुम मुझे बताओ। शिवजी से बड़े या उनके समान ही और कौन देवता है ?"

दक्ष बोले—"कोई हो या न हो, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह हमसे विरोध रखता है, इसलिये हमारा शत्रु है। हम अपने शत्रु को नहीं बुला सकते।"

यह सुनकर अत्यन्त रोष के साथ सतीजी कहने लगीं— छिः, छिः तुझे ऐसा कहने में लज्जा भी नहीं लगती। तेरी जिह्वा गिरती भी नहीं। राम राम राम, तू शिवजी को अपना शत्रु समझता है। संसार में जिनका कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं, उन चराचर के स्वामी सर्वान्तिर्यामी, व्यापक विभु भगवान् शंकर से तू द्रोह करता है। इससे तेरा और तेरे साथियां का कल्याण न होगा।"

यह सुनकर दक्ष को भी क्रोध आ गया बोला—"सती, यद्यपि तू मेरी बेटी है, किन्तु उस अशुचि अघोरी के साथ विवाह हो जाने से तू भी मेरे काम की नहीं रही। तू भी उस भभूतिया के संसर्ग से छूने योग्य नहीं रही। इसलिये मैंने तुझे भी नहीं बुलाया था। फिर भी तू बिना बुलाये ही दौड़ी चली आई, मेरा तुझसे और तेरे पति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।"

इतना सुनते ही सतीजी दांत पीस कर बोलीं—दुष्ट पुरुषों को सब दुष्ट ही दिखाई देते हैं। पीला शीशा आँखों पर चढ़ा लेने से सब कुछ पीला हो पाला दिखाई देता है। संसार में चार प्रकार के मनुष्य होत हैं। एक तो ऐसे होते हैं जो किसी के गुण दोषों की ओर ध्यान ही नहीं देते। यही सोचते हैं, ये गुण गुणों में वर्त रहे हैं। दूसरे ऐसे सज्जन पुरुष होते हैं, कि जो दूसरों के

केवल गुणों को ही देखते हैं। अवगुणों की ओर ध्यान ही नहीं देते। किसी में सरसों के बराबर भी गुण हो, तो उसे सुमेरु-समान समझकर आदर से उसे हृदय में धारण करते हैं। वे केवल गुणों को ही देखते हैं। संसार में ऐसा कोई भी नहीं जिसमें एक भी गुण न हो। तीसरे ऐसे होते हैं कि दूसरों के गुण-दोष दोनों को देखते हैं। दोनों पर विचार करते हैं, कि इसमें यह गुण है, यह दोष है। गुण-दोषों का विचार करके जो उन्हें अच्छा गुण लगता है, उसकी प्रशंसा करते हैं। अवगुणों को अवहेलना अथवा निन्दा करते हैं। चौथे वे अधम पुरुष होते हैं जो सब में दोष ही ढूंढते रहते हैं। कितना भी ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, यशस्वी प्रतिष्ठित पुरुष क्यों न हो, वे उसमें अवगुण ही खोजेंगे। जैसे कितना भी सुन्दर स्वच्छ शरीर हो? मक्खी वहीं बैठेगी जहाँ पीव, घाव, रक्त, मल आदि अशुचि वस्तु लगी हों। तू इन चौथे ही पुरुषों में से है। इसीलिये शिवजी में तुझे अवगुण ही अवगुण दिखाई देते हैं। यह अनुचित है। जिनकी इस क्षण-भंगुर नाशवान् शरीर में ही आत्म-बुद्धि है, इसी को आत्मा समझे बैठे हैं, वे तो महापुरुषों के गुणों को देख ही नहीं सकते। जैसे कसाई पशु के सौन्दर्य की ओर नहीं देखता वह यही देखता है, इसमें कितना मांस निकलेगा, कितना रक्त निकलेगा? महापुरुषों के अवगुण देखते-देखते और उनकी सदा निन्दा करते-करते उनका समस्त तेज नष्ट हो जाता है। शिवजी की निन्दा-रूपी पाप ने तेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी हैं।"

दक्ष ने कहा—"तू क्या बक-बक कर रही है? बिना बुलाये ही तो यहाँ दौड़ी आई, फिर हमें ही ज्ञान सिखा रही है। शिव को कौन नहीं जानता? वह नाम का ही शिव है, वास्तव में वह सर्वथा अशिव है। नर-मुण्डों की माला पहिनता है, खप्पर में

खाता है, श्मशान में रहता है, चिता की भभूति रमाता है। जटा खोलकर भूत-प्रेतों के साथ नाचता है, भाँग-धतूरा खाता है। उसे तो छूना भी पाप है। देवताओं की पंक्ति में हम उसे कैसे बिठा सकते हैं? उस अपवित्र के साथ हम भोजन व्यवहार कैसे कर सकते हैं?"

सती ने अत्यन्त ही कुपित होकर कहा—"मैं क्या कहूँ-तू मेरा पिता है, जनक है, तेरे शरीर से मैं पैदा हुई हूँ, नहीं तो तुझे अभी बता देती, कि शिवजी शिव हैं या अशिव हैं। उनकी पंक्ति में बैठने से देवता अशुचि हो जायँगे या शुचि? अरे, जो देवताओं में देवत्व स्थापित करते हैं, जिनके श्री अंग की महत्ता तो जाने दो, जिनके दो अक्षर वाले 'शिव' नाम को कोई कैसे भी, किसी भाव से भी, किसी अवस्था में भी; किसी जाति, वर्ण अथवा आश्रम का पुरुष शुद्ध, अशुद्ध जहाँ चाहे तहाँ एक बार ही लेने से पवित्र हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, उन शिव को तू अशुचि बता रहा है। अरे, मरते समय महा पापी चोर भी 'प्रहर अपहर' ये शब्द कहकर मुक्त हो गया। वास्तव में चोर कहने का अभिप्राय शिव के नाम से नहीं था। प्रहर अपहर का अर्थ, अच्छी प्रकार लूटो; किन्तु अर्थ कुछ भी हो अन्त में 'हर' शब्द तो था। इसी से मरते समय हर-नाम मुख पर आने से पापी भी परम पद को प्राप्त हो गये, उन्हें तू अपवित्र बता रहा है? उनकी आज्ञा को उल्लंघन करने की सामर्थ्य किसमें है? ऐसे सर्व-समर्थ शिव को तू अपना शत्रु समझता है। जो अर्थियों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करते हैं, जो मुमुक्षुओं को बिना प्रयास के मुक्ति प्रदान करते हैं, जो भ्रमर रूपी भक्तों को अपने चरणारविन्द मकरन्द रूपी, ब्रह्मानन्द-रस का निरन्तर पान कराते रहते हैं उनसे तुझे छोड़कर और कौन द्वेष करेगा?"

दक्ष बोला—"सती बस, बहुत हो गई, अब तू मर्यादा का उल्लङ्घन कर रही है। अब तक तेरी बातों को बाल-स्वभाव समझ कर क्षमा करता रहा। अब तू आवश्यकता से अधिक बढ़-बढ़ कर बातें बनाने लगी है। देख, मैं उस अघोरी को कभी अपने यहाँ न बुलाऊँगा यही नहीं, आज से वह किसी भी यज्ञ में न आने पावेगा। मैं नर-मुण्डों की माला वाले भूतों के सभापति को स्पर्श करना पाप समझता हूँ। मैं खप्पर में खाने वाले की पंक्ति में बैठकर कभी नहीं खा सकता। मैं न छूने योग्य चिता की भस्म लगाने वाले को भूलकर भी गले से नहीं लगा सकता। मैं भूत, प्रेत, पिशाचों के अधिपति के साथ अब से कोई सम्बन्ध न रखूंगा। तू भी उसके सम्बन्ध से मेरे लिये त्याज्य है। तब तू चाहे यहाँ रह या चली जा। मुझसे तेरा कोई प्रयोजन नहीं।"

सती ने कहा—"जब तैंने मेरा उनसे विवाह किया था तब तुझे ये सब बात नहीं मालूम थीं क्या? ये ब्रह्मादिक देवता उनकी ये सब बातें नहीं जानते हैं? यदि जानते हैं, तो ये उनके चरणों की धूलि को सिर पर क्यों चढ़ाते हैं? उनकी फेंकी हुई माला को क्यों सिर से प्रणाम करते हैं? उन सर्वज्ञ के सम्मुख क्यों सब हाथ जोड़े खड़े रहते हैं? साक्षात् विश्वम्भर श्रीविष्णु क्यों सदा शिव-शिव रटते हुए, शिवलिंग का पूजन करते हैं? क्या इन सबमें तेरी बराबर भी बुद्धि नहीं? क्या इनसे शिवजी के ये व्यवहार छिपे हैं या उनकी प्रेतचर्या संसार में अप्रकट हैं? फिर क्यों सभी शिव नाम का संकीर्तन करते हैं, क्यों सब कार्यों में शिव-पूजन करते हैं, क्यों उनके पुत्र गणपति की आराधना करते हैं?"

दक्ष ने क्रोध में भरकर कहा—"अब मैं तुझसे बोलना नहीं चाहता। मेरे कार्यों में विघ्न हो रहा है। तुझे बैठना हो, तो

उधर जाकर चुपचाप बैठ जा। जाना हो, तो इन भूत पिशाचों को लेकर इस बैल पर बैठकर चलो जा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इतना कहकर दक्ष ने सतीजी की ओर से मुँह फेर लिया और वह यज्ञ कराने वालों से बातें करने लगा।"

छप्पय

महत् पुरुष मन मधुप चरन अरविन्द सरिस हर।
पान करें मकरन्द मधुर भवभयहर सुखकर॥
अर्थी पावें अर्थ काम सब पावैं कामी।
करें कामना पूर्ण सबनि की अन्तर्यामी॥
अज अनादि सुख-दुख न कछु, राग द्वेष तैं जो रहित।
तिनतें बैर बिसाय कें, कैसे होवै तोर हित॥

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा ? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ो ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कलापूर्ण है। डाकव्यय अलग।

———

नई प्रकाशित पुस्तक

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत-शतक" है, इसमें हनुमान जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पय में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है। अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् जी का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) है। मुख पृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर भावमय चित्र है। सुन्दर छपाई वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसे हैं।

--व्यवस्थापक

भागवती कथा

पर

हरिभक्त परायण परशुराम भाऊ कालेज, बड़ौदा के

श्री पण्डित शंकर वामन दाण्डेकर, एम० ए०

की

शुभ-सम्मति

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी की
लिखी हुई भागवती कथा का सप्तम
खण्ड पढ़ा। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी उत्कृष्ट
अधिकारी लेखक के नाते से मशहूर हैं। उनकी
लेखनी से बहती हुई भागवती कथा हिन्दी साहित्य
में भक्ति-विरक्ति गङ्गा-यमुना का स्रोत ही है। इस ग्रन्थ
के पठन से पाठक के अन्तःकरण में भगवद्भक्ति की ज्योति
अवश्य ही जलती रहेगी। आधुनिक परिस्थिति
में ऐसे वाङ्मय की नितान्त आवश्यकता
है। आशा है कि कोई सज्जन
इस ग्रन्थ का मराठी
में अनुवाद
करेंगे।